के उद्देश्य

षा का संरक्षण तथा प्रसार।
गों का विवेचन।
कृति का अनुसंधान।
त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

विदन

[१] प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

[२] पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

[३] पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है, और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास के भीतर भेजी जाती है।

[४] पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है; परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५५] संवत् २००७ [अंक ४

भारतीय मुद्राओं का सविशेष अध्ययन*

[श्री वासुदेवशरण अग्रवाल]

भारतीय मुद्रा-परिषद् की स्थापना १६१० में हुई। परिषद् ने अपने सदस्यों के द्वारा भारतीय मुद्राओं की संरक्षा और शास्त्रीय अध्ययन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। अनेक प्रतिभाशाली विद्वानों ने इस विषय के कितने ही महत्त्वपूर्ण अध्यायों को सजाकर भारतीय इतिहास की अनमोल सामग्री प्रस्तुत की है। किंतु विद्या का क्षेत्र संतत संवर्धनशील है। इसमें सदा नवीन दृष्टिकोण से नई और पुरानी सामग्री पर काम करनेवाले विद्वानों की आवश्यकता है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में कहा है—

अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

जिस ज्ञान-अग्नि की उपासना में पूर्व ऋषियों ने काम किया है, नूतन काल के ऋषि भी उस परंपरा को आगे बढ़ाते हैं। हमारे इस परिमित क्षेत्र में भी यह नियम सत्य है। भारतीय मुद्राओं के अध्ययन के लिये इस समय विशेष रूप से नए कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। संग्रहालयों में सिक्कों की सामग्री दिन-दिन बढ़ रही है और आवश्यक कार्यकर्ताओं के अभाव में वह बिना छानबीन के बहुत वर्षों तक रखी रह जाती है। पिछले वर्षों में हमारी इस परिषद् के प्रकाश-स्तंभ आचार्य श्री अनंत सदाशिव अल्टेकर ने कौशांबी से प्राप्त और प्रयाग-संग्रहालय में वर्षों से सु-

* गत २७ दिसंबर १६५० को नागपुर में हुए भारतीय मुद्रा-परिषद् के अधिवेशन में यह सभापति-पद से दिया गया भाषण है। अभी तक उक्त विशिष्ट पद से अंग्रेजी में ही भाषण दिए जाते रहे हैं, इस बार पहले-पहल यह महत्त्वपूर्ण भाषण हिंदी में दिया गया है।—सं०

रक्षित मुद्राओं की छानबीन करके कई नए राजाओं का पता लगाया जिससे प्राचीन वत्स जनपद एवं उसके पड़ोसी राज्यों के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ा। यह एक उदाहरण मात्र है। प्रायः प्रत्येक संग्रहालय में सिक्कों के संग्रह इसी प्रकार के अध्ययन की बाट जोह रहे हैं। इस विषय में कई प्रकार से काम किया जा सकता है। एक तो हम सब सच्चे हृदय से इस स्थिति पर विजय पाने का प्रयत्न करें कि जो भी सामग्री हमारी संरक्षा में हो वह बिना अध्ययन और परिचय के न रहने पाए। यदि आप इसे स्वीकार करें तो मेरी प्रार्थना है कि प्रत्येक संग्रहाध्यक्ष अपने मुद्रा-संग्रह की इस प्रकार की अनधीत सामग्री का लेखा-जोखा अगले छः मासों में तैयार कर ले और उसकी सूचना परिषद् की पत्रिका के संपादक श्री अल्टेकर जी के पास भेज दे। परिषद् के कार्यालय में इस प्रकार की प्राप्त सूचनाओं पर विचार किया जाय और यह निश्चय किया जाय कि किन विशेषज्ञों द्वारा उस सामग्री का अध्ययन कराया जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि परिषद् को भिन्न-भिन्न वंशों और युगों की मुद्राओं के अध्ययन के लिये विशेषज्ञ विद्वान् चुनने चाहिए। काम की सुविधा के लिये यह एक प्रकार से काम का बँटवारा करना होगा। विद्वानों को स्वयं अपनी इच्छा से चुनाव करना चाहिए कि उन्हें किस युग के सिक्कों में विशेष रुचि है। इस प्रकार के सहयोग से प्रतिवर्ष मिलनेवाले नए मुद्रानिधान या सिक्कों के जखीरों (ट्रेजर ट्रोव होर्ड) का अध्ययन करना उचित समय के भीतर आसानी से हो सकेगा। प्रत्येक संग्रहाध्यक्ष को यह ज्ञात रहेगा कि वह किस युग के और किस राजवंश के सिक्कों की छानबीन में किस विशेषज्ञ से सहायता प्राप्त कर सकता है। यह भी उचित होगा कि जिस समय नए सिक्के या निधान मिले उनकी सूचना अविलंब उसी तरह परिषद् के कार्यालय में भेज दी जाया करे, जैसे प्राचीन लेखों की सूचना गवर्नमेंट एपीग्राफिस्ट के पास हम भेजा करते हैं। यदि इस प्रकार का सम्मिलित प्रयत्न होगा तो आशा है कि भारतीय मुद्राविज्ञान और संग्रहालय दोनों को लाभ पहुँचेगा।

सिक्के इतिहास की बहुत ही प्रामाणिक सामग्री होते हैं। सिक्कों के पीछे राज्य की संपूर्ण शक्ति और ऐश्वर्य निहित रहता था। प्रत्येक युग में राजाओं के जो सचिवालय थे उनके द्वारा राज्य और राजा के वास्तविक संबंध, राजा की सत्ता, अधिकार और उसकी व्यक्तिगत रुचि को ध्यान में रखते हुए सिक्के चालू किए जाते थे। साथ ही साथ समाज की जो आर्थिक स्थिति थी उसका भी सबसे सच्चा प्रतिबिंब सिक्कों की तोल और मूल्य के द्वारा प्रकट होता था। सिक्कों की विनिमय दर, उनमें

चाँदी, सोने, ताँबे की आपेक्षिक मिलावट और इन धातुओं के पारस्परिक मूल्य का अनुपात—इन विषयों में आर्थिक स्थिति का जो उतार-चढ़ाव हुआ है उसकी कुंजी उस युग के सिक्कों के नमूनों में आज तक छिपी हुई है। सिक्कों की सहायता से सोने और चाँदी के आपेक्षिक मूल्य पर यदि प्रकाश डाला जा सके तो यह इतिहास की बड़ी सेवा होगी।

भारतवर्ष में सिक्कों का इतिहास चाँदी की आहत मुद्राओं से आरंभ होता है। उससे पूर्व वैदिक युग में सिक्कों के अस्तित्व का पुरातत्त्वगत प्रमाण अभी तक नहीं पाया गया और न सिंधु की घाटी की सभ्यता में ही मुद्राओं के अस्तित्व का कोई निश्चित प्रमाण मिला है। वस्तुतः उस प्राचीन काल में अन्य देशों के समान हमारे यहाँ भी सिक्कों का प्रचलन नहीं हुआ था। केवल वस्तुओं के विनिमय से आर्थिक जीवन का काम चलता था। आर्य जाति की जो परंपरा यूरुप में पाई जाती है वह इस विषय में भारत से मिलती-जुलती है। इस समय वस्तु-विनिमय का मुख्य आधार पशु थे। रोमन भाषा में 'पेकस' [Pecus] अंग्रेजी 'चैटल्स' [chattels] और जर्मन भाषा में 'फीह' [Vieh]—ये मूल में पशु-वाचक शब्द थे, जिनसे द्रव्य या धन का बोध होने लगा। फीह से ही अंग्रेजी 'फीस' बना है। किसी समय दक्षिणा के रूप में जो पशु दिए जाते थे उनसे फीस शब्द का दक्षिणावाची अर्थ व्यवहार मे आया होगा। वैदिक युग में विनिमय का मुख्य साधन गौ थी। दक्षिणारूप में गौ का दान वैदिक प्रथा थी जो बहुत बाद तक चलती रही। पीछे धातु के सिक्के चल पड़ने से गौ का क्रेय द्रव्य दक्षिणा में दिया जाने लगा। पाणिनि की अष्टाध्यायी में 'गोपुच्छ' से वस्तुएँ मोल लिए जाने का उल्लेख है। 'गोपुच्छ' शब्द डा० भंडारकर की सम्मति में गाय की वास्तविक पूँछ का नाम था। पर मैं समझता हूँ कि 'गोपुच्छ' गौ का ही वाचक है। अंग्रेजी में जैसे 'हैड्स ऑव कैटल' कहा जाता है वैसे ही अपने यहाँ पशुओं की संख्या और उनका आदान-प्रदान पूँछ पकड़कर होता था। आज भी यही प्रथा गोदान का आवश्यक अंग है। सेमेटिक या सामी जातियों में सिर से पशुओं की संख्या करने का रिवाज था और वहीं से पश्चिमी देशों में भी यह परंपरा चली। मुसलमानी काल से भारतवर्ष में भी गाय भैंस की बिक्री की हुलिया लिखते समय 'गाय एक रास', 'भैंस एक रास' ऐसा लिखने लगे। यह रास शब्द सेमेटिक भाषा का है जिसका अर्थ सिर है। इसके विपरीत भारतवर्ष में अपनी प्रथा और मुहावरे के अनुसार गाय और भैंस आदि की

चराई के टैक्स या लाग को 'पुच्छी' कहा जाता है। इस प्रकार 'गोपुच्छेन क्रीतं गौपुच्छिकम्' (अष्टाध्यायी ५।१।१६) पद का अर्थ संगत हो जाता है।

प्राचीन यूनान में भी विनिमय के लिये व्यवहार में गाय या बैलों का ही प्रयोग होता था। होमर ने इलियड में सोने के कवच का मूल्य सौ गौ और काँसे के कवच का मूल्य नौ गौ लिखा है (इलियड ६।२३४)। आर्यों की दूसरी शाखा ईरानियों में भी यही प्रथा थी। जंद-अवस्ता में वैद्य की फीस गौ के रूप में देने का उल्लेख है। गौ के समान ही वस्त्रों से भी वस्तु-विनिमय का काम लिया जाता था। अष्टाध्यायी में वसन से क्रीत वस्तु को 'वासन' कहा गया है (५।१।२७)। चीन देश में सातवीं शताब्दी ई० पू० में 'पु' नामक एक सिक्का, जिसका अर्थ कमीज है, चलता था। वह शकल में हूबहू पहिनने की कमीज जैसा डेढ़-दो इंच लंबा बनाया जाता था। इसी प्रकार चाकू की आकृति का पाँच-सात इंच लंबा 'तव' नामक एक सिक्का होता था।

सिक्कों का सबसे पहले आविष्कार चाँदी या सोने के बराबर तोल के टुकड़ों में हुआ होगा। पश्चिमी जगत् में सिक्कों का सबसे प्रथम आविष्कार लीडिया देश में सात सौ ई० पूर्व के लगभग माना जाता है। इतिहासकार हीरोदोत ने निश्चित शब्दों में लिखा है कि जहाँ तक हमें मालूम है, संसार के सब देशों में लीडिया देश के लोगों ने सबसे पहिले चाँदी सोने को सिक्के के रूप में ढाला। हीरोदोत ने सच्चे ऐतिहासिक की भाँति उस समय भी यह सावधानी से लिख दिया था कि जहाँ तक उसकी जानकारी पहुँच सकी थी वहाँ तक लीडिया देश को सिक्कों के सर्वप्रथम आविष्कार का श्रेय प्राप्त था। किंतु वस्तु-स्थिति इससे भिन्न है और सिक्कों के सर्वप्रथम व्यवहार की कल्पना भारतवर्ष में पाई जाती है। चाँदी और सोने को बराबर तोल के टुकड़ों में काटकर या ढालकर व्यवहार में चालू करना, यही सिक्कों का पहला भारतीय रूप था। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण में हिरण्य शतमान और राजत शतमान अर्थात् दक्षिणा में दिए जानेवाले शतमानों का उल्लेख पाया जाता है (५।५।५।१६; १३।२।३।२)। कात्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार शतमान का संबंध १०० से था, अर्थात् सौ मान या रत्ती के बराबर तोल होने के कारण वह सिक्का शतमान कहलाया। अष्टाध्यायी में, जो पाँचवीं शती ई० पूर्व में बनाई गई थी, शतमान सिक्के का उल्लेख हुआ है (शतमानेन क्रीतं शातमानम्, अष्टाध्यायी ५।१।२७)।

अष्टाध्यायी में निष्क सिक्के का भी उल्लेख हुआ है। 'द्वित्रिपूर्वात् निष्कात्' (५।१।३०) सूत्र में दो निष्क और तीन निष्क से मोल ली जानेवाली वस्तु के लिये 'द्विनैष्किक', 'त्रिनैष्किक' रूप सिद्ध किए गए हैं। यह स्थिति पाँचवीं शती ई० पूर्व में थी। एक दूसरे सूत्र में इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण मिलता है। 'शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्' (५।२।११९) सूत्र सौ निष्क और हजार निष्क धन की पूँजीवाले व्यक्ति के लिये 'नैष्कशतिक' और 'नैष्कसहस्रिक' शब्दों की सिद्धि बताता है। तत्कालीन भाषा में ये चालू शब्द थे। महाभारत में भी निष्कशत और निष्कसहस्र रूप में धन की दो कोटियों का एक ही श्लोक में उल्लेख हुआ है (अनुशा० १३।४३, शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च संमितं)। लेकिन निष्क शब्द का धन के रूप में प्रयोग पाणिनि से भी बहुत प्राचीन था। शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक आरुणि ने उस व्यक्ति को एक सुवर्ण निष्क देने की घोषणा की थी जो उसे शास्त्रार्थ में जीत ले (११।४।१८)। निष्क की प्राचीनता और भी पहले जाती है जब हमें ऋग्वेद में निष्क का उल्लेख मिलता है। सिधुतटवासी राजा भाव्य अपने पुरोहित कक्षीवान् को सौ निष्क, सौ घोड़े और एक सहस्र गौएँ देता है। मुद्रा-शास्त्र की परिभाषा में ऐसा प्रतीत होता है कि सुवर्ण का कोई इस प्रकार का टुकड़ा जिसपर अनेक रूप या चिन्ह अंकित होते थे, निष्क कहलाता था, जो संभवतः आभूषण के काम में आता था (ऋ० २।३३।१०), क्योंकि कई जगह 'निष्कग्रीव' विशेषण भी मिला है। लेकिन महाभारत में जिस निष्क का वर्णन है वह आभूषण मात्र नहीं, बल्कि सिक्का अर्थात् निश्चित तौल का सोने का टुकड़ा हो गया था।

साष्टं शतं सुवर्णानां निष्कमाहुर्धनन्तथा। (महा० द्रो० ६७)

अर्थात् प्रत्येक ब्राह्मण को १०८ सुवर्ण निष्क धन दक्षिणा में दिया गया। महाभारत में सभापर्व में वर्णन है कि विश्वकर्मा ने एक सहस्र निष्क से एक शंख बनाया था जिसे समुद्र ने वरुण की ओर से युधिष्ठिर को भेंट में दिया था (सभापर्व ५४।१५)। इस प्रकार सौ निष्क, एक सौ आठ निष्क और एक सहस्र निष्क के उल्लेखों से निश्चित होता है कि महाभारतकार निष्क को नपे-तुले सुवर्ण के टुकड़े के अर्थ में जानते थे। पतंजलि के समय तक निष्क के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। किंतु यह भी सत्य है कि अभी तक एक भी सुवर्ण निष्क उपलब्ध नहीं हुआ। यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं, जब हम यह देखते हैं कि अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के सदमुहरी या सौ तोले और बीस तोले भार के शाहनशाही नामक सिक्कों में से अभी तक एक दो को छोड़कर और नहीं मिले, यद्यपि मुसलमानी इतिहास-

लेखकों और पश्चिमी यात्रियों ने मुगल खजाने का परिचय देते हुए उनका वर्णन किया है (होडीवाला, मुगल मुद्राओं का अध्ययन, पृ० ४३)।

महाभारत के एक अन्य प्रकरण की ओर मैं विशेष रूप से आपका ध्यान भारतीय सिक्कों की प्राचीनता के लिये दिलाना चाहता हूँ। युधिष्ठिर ने अपने खजाने का वर्णन करते हुए कहा है—

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः।
पंचद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घ्येयस्य भारत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥

[मेरे कोष में ताँबे के बरतनों में चार सौ निधियाँ आहत सुवर्ण से भरी हुई हैं और एक एक की तोल पाँच द्रोण है। उनका सोना उत्तम प्रकार का है।]

अभी तक सिक्कों को आहत अर्थात् चिन्हित (अंग्रेजी पंचमार्क्ड) करने की प्रथा से हमारा परिचय चाँदी के कार्षापण सिक्कों तक ही सीमित है। किंतु इस प्रमाण से ज्ञात होता है कि इसका आरंभ सोने के एक-सी तोल के टुकड़े बनाकर उनपर रूप या 'सिंबल्स' टंकित करने से आरंभ हुआ। इसी के लिये प्राचीन पारिभाषिक शब्द आहत था जिसे अब हम 'पंचमार्क' कहते हैं। रूप-समुत्थापन करने के कारण ही सुवर्ण की एक संज्ञा 'जातरूप' (अर्थात् जिसपर रूप या किसी प्रकार का चिन्ह यंत्रित कर दिया गया हो) पड़ी। सोने के अर्थ में जातरूप शब्द चारों वेदों में से किसी में प्रयुक्त नहीं मिलता। संभवतः ब्राह्मणकाल में रूपों के आहत करने की प्रथा का आरंभ हुआ, जैसा कि महाभारत में उल्लेख है। इस समय से आहत सुवर्ण के लिये जातरूप शब्द का आरंभ हुआ होगा और शनैः शनैः यह शब्द सुवर्ण का पर्यायवाची हो गया। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आरंभ में सुवर्ण पर ही रूप-छेदन (सिंबल पंच) करने की प्रथा थी, चाँदी पर रूपों के ठप्पे लगाना इसके पीछे शुरू हुआ।

पाणिनीय सूत्र 'जातरूपेभ्यः परिमाणे' (४।३।१५३) में 'जातरूप' से तात्पर्य रूप-समुत्थापित हिरण्य से है। जहाँ हिरण्य और सुवर्ण साथ साथ आते हैं, जैसे जातक (६।७६ हिरञ्ञ सुवण्ण) और अर्थशास्त्र में, वहाँ हिरण्य का अर्थ वह सोना है जिसे सिक्कों का रूप नहीं प्राप्त हुआ था। आजकल की भाषा में उसे पासा या गुल्ली कहेंगे। जब रूप से आहत होकर वह सिक्के के आकार में आता

तब उसे सुवर्ण कहते थे। अर्थात् अनढले सोने की संज्ञा हिरण्य और ढले हुए की सुवर्ण थी। सुवर्ण नामक सिक्के के वास्तविक अस्तित्व का प्रमाण महाभारत, अष्टाध्यायी और अर्थशास्त्र से मिलता है, यद्यपि अभी तक उसका भी कोई नमूना नहीं मिला। सुवर्ण की खरीज के रूप में 'पाद सुवर्ण' और 'सुवर्ण माषक' सिक्के भी होते थे। उदय जातक में सुवर्ण माषकों से भरी हुई सोने की थाली (पात्री) का वर्णन है।

प्राचीन भारतवर्ष में सिक्कों की तोल क्या थी, यह बहुत उलझा हुआ विषय है। ज्ञात होता है कि शतमान या सौ रत्ती की तोल देशी परंपरा के अनुसार थी। सौ रत्ती तोल के चाँदी के शतमान सिक्के तक्षशिला की खुदाई में मिले हैं, जो अब तक के प्राप्त भारतीय सिक्कों में सबसे पुराने हैं। वे आकृति में दीर्घ शलाका के समान है। विसुद्धि मग्ग में 'चित्त विचित्त' अर्थात् रूप से आहत सिक्के तीन तरह के कहे गए हैं—(१) दीर्घ अर्थात् लंबे (२) चतुरस्र अर्थात् चौकोर और (३) परिमंडल अर्थात् गोल (विसुद्धिमग्ग, २। ४३७)। लंबे सिक्कों की पहचान में तक्षशिला के शतमान ही हमारे सामने आते हैं। शतमान या सौ रत्ती की तोल के ⅖ भाग अर्थात् ४० रत्ती या पाँच माशे का एक सिक्का पीछे चालू हुआ जो 'विंशतिक' कहलाया। इससे भी पुराना साठ रत्ती का 'त्रिंशत्क' सिक्का था। पाणिनि के समय में ये दोनों सिक्के चालू थे (५।१।३५)। महाभारत वनपर्व से ज्ञात होता है कि आठ 'शाण' सिक्कों का एक शतमान होता था (अष्टौ शाणाः शतमानं वहन्ति, वन० १३४।१४)। इस प्रकार १२½ रत्ती की तोल का चाँदी का छोटा सिक्का 'शाण' कहलाता था जिसका पाणिनि ने दो सूत्रों में उल्लेख किया है।

अष्टाध्यायी और उससे संबंधित टीकाओं (कात्यायन, पतंजलि और काशिका) में प्राचीन आहत सिक्कों का जितना विशेष वर्णन है, उतना अन्यत्र नहीं पाया जाता। आहत मुद्राओं की तोल के अनुसार उनके नामों की ठीक पहचान एवं उनपर अंकित रूपों या लक्षणों का अभिप्राय और ऐतिहासिक महत्त्व, ये दो खोज के मुख्य विषय हैं। तोल के हिसाब से इन सिक्कों की मोटे तौर पर यह तालिका दी जाती है—

संख्या	नाम	तोल रत्ती में	तोल ग्रेनों में (१ रत्ती = १·८ग्रेन)
१	शतमान	१००	१८०
२	अर्ध शतमान	५०	९०
३	पाद शतमान	२५	४५
४	पादार्ध शतमान या शाण	१२॥	२२॥

संख्या	नाम	तोल रत्ती में	तोल ग्रेनों में (१ रत्ती=१·८ग्रेन)
५	त्रिशत्क	६०	१०८
६	विंशतिक	४०	७२
७	कार्षापण (प्रति, अन्य नाम)	३२	५७.६
८	अर्धकार्षापण (भाग)	१६	२८.८
९	पंचमाषिक (पादविंशतिक)	१०	१८
१०	पाद कार्षापण	८	१४.४
११	अष्टभाग कार्षापण	४	७.२
१२	रौप्य माष	२	३.६
१३	अर्ध रौप्य माष	१	१.८

तांबे के सिक्के (ताम्रिक)

संख्या	नाम	तोल रत्ती में	तोल ग्रेनों में
१४	कार्षापण	८०	१४४
१५	अर्ध कार्षापण	४०	७२
१६	पाद कार्षापण	२०	३६
१७	अष्टभाग कार्षापण	१०	१८
१८	माष	५	९
१९	अर्ध माष	२॥	४॥
२०	काकिणी	१।	२।
२१	अर्ध काकिणी	.६२५	१.०१२५
२२	त्रिशत्क	१५०	२७०
२३	विंशतिक	१००	१८०
२४	अध्यर्ध त्रिशत्क	२२५	४०५
२५	अध्यर्ध विंशतिक	१५०	२७०

आहत मुद्राओं की जो निधियाँ अब तक मिली हैं उनके सिक्कों की वास्तविक तोल के साथ यदि ऊपर लिखे हुए वजन का मिलान किया जाय तो उनमें से बहुतों की पहचान संभव है। श्री दुर्गाप्रसाद जी ने विंशतिक और त्रिशत्क की प्राप्ति की सूचना मुझे दे दी थी। यद्यपि जातकों में चाँदी के अड्ढमासक का उल्लेख है, पर मुझे एक रत्ती के कण बराबर सिक्के के अस्तित्व में संदेह था। सौभाग्य से अभी हाल में इतने छोटे सिक्के मुझे प्राप्त हुए हैं, जिन्हें बिना देखे विश्वास करना कठिन था। जहाँगीरा के पास सिंध नदी में सोना धोनेवाले न्यारिए बालू को कपड़े में छानते

हैं। उन्हीं से सौ के लगभग रौप्यमाषक प्राप्त हुए हैं जिनमें कई अद्भुत रौप्य माषक भी हैं। तक्षशिला (मीरटेकरी), पेशावर, अफगानिस्तान, पैला, सहेट महेट, लोवापुर, अहरोरा, गोलखपुर (पटना), रमना (कटक), मछुवाटोली (पटना), घोड़ाघाट, भागलपुर, पतराहा (पुरनिया), रेढ़ (जयपुर), बहल (पूर्वी खानदेश), करीमनगर (हैदराबाद), सुलतानपुर वाई (सितारा), बाँदिनायकन्नूर (मदुरा), जौनपुर, बरवानी (मालवा), आदि स्थानों से प्राप्त आहत मुद्रानिधियों की बहुमूल्य सामग्री संग्रहालयों में सुरक्षित है। सिक्कों की तोल के अनुसार उनकी जाँच होनी चाहिए।

इन सिक्कों पर जो चिन्ह अंकित हैं वे विसुद्धिमग्ग के अनुसार इस बात के द्योतक थे कि किस ग्राम, निगम, पर्वत, नदी-तीर के और किस आचार्य शिल्पी के हाथों वे सिक्के बनाए गए थे। अभी तक इस संबंध में कोई कुंजी उपलब्ध नहीं हुई। मोटे तौर पर पूर्वकालीन, मध्यकालीन और उत्तरकालीन, इन तीनों प्रकार की मुद्राओं और चिन्हों की पहचान होती है। श्री दुर्गाप्रसाद जी इन मुद्राओं के विशेष अध्ययन के बाद इस परिणाम पर पहुँच रहे थे कि पाँच रूपों में जो दूसरा रूप है जिसे संस्कृत में 'षडर' (छैरिया) और अंग्रेजी में 'सिक्स आर्म्ड सिबल' कहा जाता है, वह तिथि-क्रम के अनुसार बदलता रहा है। जिन षडरों की भुजाओं में परिमंडल, नंदिपद गर्भित परिमंडल (ओवल विद टारीन), त्रिक गर्भित परिमंडल, डमरू गर्भित परिमंडल अथवा विदु गर्भित त्रिकोण के चिन्ह हैं वे पूर्वकाल के हैं और जिनमें नंदिपद और वाण का सम्मिलन है वे बाद के हैं। यह पहचान और भी कई प्रकार से विशेषतः मुद्राओं के आकार-प्रकार (फेब्रिक) और रूपों के समुदाय (सिंबल ग्रुप्स्) से भी ज्ञात होती है।

पाली ग्रंथों में और पाणिनि की अष्टाध्यायी में चाँदी के चालू सिक्के को कार्षापण कहा गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सैकड़ों जगह इस सिक्के का उल्लेख है, पर सर्वत्र इसे 'पण' कहा गया है। कार्षापण नाम 'कर्ष' और 'पण' इन दो शब्दों से बना है। कार्षापण शब्द वैदिक या ब्राह्मण साहित्य में नहीं पाया जाता। कर्ष शब्द असीरियन भाषा के कर्षु, यूनानी 'करेसस्' (Kerasos) से बना है। अंग्रेजी का 'चेरी' (cherry) शब्द इसी से है। मूल में कर्षु शब्द का अर्थ छोटी बौडी के आकार का फल था। पुर्तगाली भाषा में इसी का रूप 'कैश' हुआ जिससे अंग्रेजी में रोकड़ के अर्थ में 'कैश' शब्द का व्यवहार होता है। चीनी लोग भी अपने चौकोर छेदवाले गोल सिक्के के लिये 'कैश' शब्द का व्यवहार प्राचीन काल से करते रहे हैं। संभ-

वतः भारतवर्ष में यह शब्द पाणिनि से पहले छठी या सातवीं शताब्दी में लिया गया होगा। कर्ष शब्द एक तोल का नाम था। कर्ष के बराबर जो सिक्का या पण था वह 'कार्षापण' प्रसिद्ध हुआ। सौ रत्ती की शतमान तोल के स्थान में ८० रत्ती वाले कर्ष की तोल की स्थापना भारतवर्ष में उसी समय हुई जान पड़ती है। ज्ञात होता है उस समय ताँबे और चाँदी की धातुओं का पारस्परिक मूल्य दो और पाँच के अनुपात में था। जिस प्रकार चाँदी के सौ रत्ती वाले शतमान का २।५ भाग, अर्थात् ४० रत्ती तोल का विंशतिक सिक्का था, उसी प्रकार ८० रत्ती के कर्ष का २।५ अर्थात् ३२ रत्ती तोल का हल्का नया कार्षापण चालू हुआ। राजा बिंबसार के समय में विंशतिक था और नंद राजाओं के समय में अर्थात् पाँचवीं शताब्दी में ३२ रत्ती वाला कार्षापण चालू हो गया था। पाणिनि के समय में भी दोनों सिक्के एक साथ चल रहे थे और दोनों का संबंध दो प्रकार की तोल के मान से था।

पाँचवीं शताब्दी में जब नंदों का देशव्यापी साम्राज्य स्थापित हुआ तब तोल और सिक्के के मान को व्यवस्थित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और नंदों ने यह काम पूरा किया। व्याकरण साहित्य में एक प्राचीन उदाहरण है 'नंदोपक्रमाणि मानानि', अर्थात् नाप-तौल को स्थिर करने का काम पहले नंद सम्राट् ने किया। नंदों की राजधानी पाटलिपुत्र में थी, इसी लिये नाप-तौल की यह परिपाटी 'मागध' नाम से प्रसिद्ध हुई। कलिंग देश ने नंदों और मौर्यों के समय में भी अपनी स्वतंत्रता को बनाए रक्खा, इसलिये कलिंग देश की नाप-तौल कालिंग मान के रूप में अलग जारी रही। ज्ञात होता है नंदों ने ८० रत्ती वाले कार्षापण को ही बहुत मान्यता दी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो इसका निश्चित प्रमाण मिलता है कि मौर्य युग में ८० रत्ती वाला कर्ष और उससे संबंधित ३२ रत्ती का चाँदी का कार्षापण मान्य थे। कुछ जनपदों मे पुरानी तोल रही और कुछ में नई तोल जारी हुई। पंचाल जनपद के राजाओं के सिक्के पुरानी तोल के आधार पर ढाले हुए हैं। मौर्यों के समय में बाजार मे चाँदी का अभाव हुआ जान पड़ता है। चौथी शताब्दी में ईरानी साम्राज्य के हट जाने पर, और ईरान के साथ व्यापार-संबंध कुछ ढीला पड़ जाने के कारण, भारतीय बाजारों में चाँदी का, जो अंदराब की खानों से आती थी, तोड़ा हो गया था। मौर्यों के बहुत से सिक्के ताँबे पर चाँदी का पानी चढ़ा कर ढाले हुए हैं। यूनानियों के साथ जो राजनीतिक कशमकश थी उससे व्यापार की स्थिति पहले जैसी न सुधर सकी। शकपार्थव राजाओं के उत्तर-पश्चिम में सत्तारूढ़ हो जाने पर तो यह व्यापारिक मार्ग और भी अधिक कठिन हो गया था, यहाँ तक कि

ई० पहली शती में रोम देश के निवासियों को स्थल-मार्ग से हाथ धोने के कारण भारतवर्ष से व्यापार-संबंध के लिये जलमार्ग का आश्रय लेना पड़ा। लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पू० से ई० तीसरी शताब्दी तक हम स्पष्ट देखते हैं कि भारतीय बाजारों में चाँदी की तंगी जारी रही और ताँबे के सिक्कों का बोलबाला रहा। गण-राज्यों के और विभिन्न जनपदों के ढले हुए सिक्के सब ताँबे के ही हैं। कुषाण सम्राटों ने यद्यपि सोने के सिक्के भी चलाए, किंतु प्रधानता ताँबे के सिक्कों की रही।

कुषाणों के ताँबे के सिक्के धार्मिक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सूचना देते हैं। गांधार से लेकर काशी और पाटलिपुत्र तक ये सिक्के बाजारों में छा गए थे। इन सिक्कों के एक ओर नंदी वृष के साथ खड़े हुए शिव की मूर्ति इनकी विशेषता थी। मृच्छकटिक में कुषाणकालीन ताँबे के सिक्कों के लिये ही 'नाणक' (अंक १ दृश्य १)' नाम आया है। टीकाकार ने उसे 'शिवांक टंक' अर्थात् शिव की मूर्ति से अंकित सिक्का कहा है। मालवा और सौराष्ट्र के शकों ने चाँदी के सिक्के चलाए थे, उन्हें विनयपटक की समंतपासादिका टीका में रुद्रदामक कहा गया है और उनकी तोल पुराने कार्षापण सिक्कों की तीन चौथाई थी। बृहत्कल्पसूत्र भाष्य में पाटलिपुत्र के मुरुंड राजाओं का उल्लेख है, और पूर्व देश में प्रचलित सिक्कों को 'केवडक' या 'केतर' नाम दिया गया है। ये किदर कुषाणों के सिक्के ज्ञात होते हैं। इन्हीं के लिये काशिका में 'केदार कार्षापण' नाम आया है।

गुप्तकाल में चालू सिक्कों की संज्ञा सुवर्ण और कार्षापण थी। शुक्रनीति के अनुसार चाँदी से सोने का मूल्य सोलहगुना अधिक था—'रजतं षोडशगुणं भवेत् स्वर्णस्य मूल्यकम्' (१४।२।६२)। उस युग में भूमि की नाप-जोख करके प्रत्येक क्षेत्र के क्षेत्रफल और उसपर नियत राजदेय कर की निश्चित व्यवस्था कर दी गई थी। कोई भी राजा हो, प्रजा षष्ठांश राजग्राह्य भाग को धर्म्य मानकर पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसका पालन करती थी। शुक्रनीति में इस व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट लिखा है कि भूमि-कर का निश्चय चाँदी के कार्षापण सिक्कों में ही किया गया था। भूमि-कर से जिसकी आय प्रतिवर्ष एक लाख हो वह सामंत कहलाता था। तीन लाख राजत कार्षापण की आय का नृप, दस लाख का मांडलिक, बीस लाख का राजा, पचास लाख का महाराज, दस करोड़ का स्वराट् पचास करोड़ का विराट् और इससे अधिक सार्वभौम संज्ञा का अधिकारी था (शुक्रनीति १।१८३–८७)। प्रत्येक क्षेत्र की भूमि संबंधी आय के ये आँकड़े व्यावहारिक महत्त्व के थे। पीछे के लेखों में देशों के नाम के साथ जो बड़ी बड़ी संख्याएँ

दी हुई मिलती हैं, जिनके अभिप्राय के विषय में मतभेद रहा है, वे संख्याएँ लगान की कुल जमाबंदी का संकेत करती थीं, जिनकी स्मृति गुप्तकाल के बाद भी बराबर जारी रही।

यह सर्वविदित है कि मुद्राओं की दृष्टि से गुप्तकाल भारतवर्ष का स्वर्णयुग था। गुप्त-मुद्राएँ उस युग के देशव्यापी रूप-सत्र (ब्यूटी कल्चर) की सच्ची प्रतिनिधि हैं। द्वितीय चंद्रगुप्त की मुद्रा पर 'रूपाकृति' पद इसी भावना को प्रकट करता है। स्वयं सम्राट् मुद्राओं में व्यक्तिगत रुचि रखते थे। उत्पताक (स्टैंडर्ड), धनुर्धर (आर्चर), हुताग्नि (आल्टर), गंधर्वललित (लायरिस्ट), सिंहपराक्रम, व्याघ्र-निहंता, खड्गत्राता, अश्वारोही, अप्रतिघ, पर्यंक, एवं अश्वमेध भाँति जिसपर अनर्गल होमतुरंग (रघुवंश ३।३९) की सुंदर आकृति है, इत्यादि भाँति भाँति की कलात्मक स्वर्ण मुद्राएँ सम्राटों के शुभ्र यश और चरित्र के परिचायक छंद हैं। गुप्तयुग में देश और विदेशगत व्यापार से जो अभूतपूर्व समृद्धि हुई वह सुवर्ण मुद्राओं के रूप में सर्वत्र छा गई। राजप्रासाद, कुटीर, नगर, ग्राम उससे भर गए। आज भी उन मुद्राओं को देखकर विदित होता है, मानो पौर-जनपद-भवनों में विचरण करती हुई लक्ष्मी अपने चरणों की ललित छाप छोड़ गई हो। बयाना से प्राप्त गुप्त-मुद्राओं की निधि जब हम देखते हैं तो वह समृद्धि मूर्तिमती हो उठती है। लोगों ने आश्चर्यचकित होकर सोचा कि इतनी सुवर्ण संपत्ति पृथिवी से उत्पन्न नहीं हो सकती, यह तो आकाश से प्राप्त सुवर्ण-वृष्टि है जो राजप्रासाद से लेकर गाँवों तक में बरसी है। कालिदास ने रघुवंश के पाँचवें सर्ग में इस सुवर्ण-वृष्टि के अभिप्राय (मोटिफ) का काव्यमय वर्णन किया है और इसे द्युलोक का दोहन या कुबेर के कोष का वर्षण कहा है। दिव्यावदान में भी इस अभिप्राय का वर्णन मांधाता चक्रवर्ती के राज्य में सप्ताहपर्यंत हिरण्यवर्षण के रूप में आया है।

गुप्तों के बाद की मुद्राओं के नामों में तीन नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) पणिणक, (२) पयंक, (३) साभरक। जैनों के व्यवहार भाष्य में पणिणक नामक सिक्के का, हरिभद्र की आवश्यक टीका में पयंक का, और बृहत्कल्पसूत्र भाष्य में साभरक का उल्लेख है। पणिणक कौन सा सिक्का था ? मेरी सम्मति में भारतवर्ष में चलनेवाले सासानी सिक्कों के लिये पणिणक नाम आया है। सासानी सम्राट् अरसेक जिस कबीले का था उसका नाम पर्णी था। ईरान के प्राचीन 'दहुओं' का यह एक कबीला था। अरसेक और मीड दोनों जातियों का पार्थिया प्रांत (वर्तमान खुरासान) में सम्मिलन हुआ और उनका सम्मिलित राजवंश अरसेक

नामक हुआ, जिसकी भाषा पहलवी हुई। इसी पर्णी जाति के राजाओं के सिक्के भारतवर्ष में पर्णिक या पणिक कहलाए। दूसरे सिक्के का पर्यंक नाम 'पदांक' (अर्थात् वह सिक्का जिसपर पैर का चिह्न बना हुआ था) से है। ये सिक्के इंडो-सासानी हैं जो कई सौ वर्षों तक भिन्न भिन्न रूपों में इस देश में चलते रहे। साभरक सिक्कों के विषय में बृहत्कल्पसूत्रभाष्य में श्लोक है—

दो साभरगा दीविच्चगातुसो उत्तरपथे एक्को।

दो उत्तरापहा पुण पाडलपुत्तो हवति एक्को॥ (३८६१ श्लोक)

अर्थात् साभरक द्वीप के दो सिक्के उत्तरापथ के एक सिक्के के बराबर, और उत्तरापथ के दो सिक्के पाटलिपुत्र के एक सिक्के के बराबर मूल्य में थे। श्री मोतीचंद्र जी ने साभरक द्वीप के सिक्कों की पहचान अरब के सबाई सैबियन सिक्कों से सुझाई है, जो ठीक जान पड़ती है। अभी यह जानना शेष है कि साभरक से दुगुने मूल्य के उत्तरापथ के सिक्के कौन से थे? मध्यकालीन सिक्कों का विषय अभी तक उलझा हुआ है। हर्ष से लेकर बारहवीं शती तक के सिक्कों के नाम, तोल और मूल्य पर विद्वानों को विशेप ध्यान देने की आवश्यकता है। उनकी संख्या और किस्में बहुत सी हैं और उनकी सामग्री भी संग्रहालयों में पर्याप्त है। सीयदोणी शिलालेख मे इतने सिक्कों के नाम हैं—

(१) पंचयिक द्रम्म और उसके पाद सिक्के, (२) विग्रहपाल द्रम्म और उसका आधा भाग द्रम्मार्धिका, (३) आदिवराह द्रम्म और उसके पाद सिक्के (४) पंचियक द्रम्म, (५) विग्रहपालीय द्रम्म और उसका द्रम्मार्ध, (६) विग्रहपालीय द्रम्म और उसका तृतीय-भाग द्रम्म, (७) विग्रह द्रम्म से संबंधित विंशोपक सिक्का। मध्यकालीन सिक्कों का यथार्थ वर्गीकरण करके उनकी तोल निश्चित करने पर इन सिक्कों की पहचान करना संभव होगा। इसी के साथ भिल्लमाल के सिक्कों के बहुत से उल्लेख मिलते हैं। निशीथ चूर्णि में कहा है—'रूपमयं वा नाणकं भवति यथा भिल्लमाल्ले द्रम्मः' (पृ० ६१६), जिससे ज्ञात होता है कि भिल्लमाल का द्रम्म चाँदी का होता था। इसी का दूसरा नाम श्रीमालीय द्रम्म था, और इसे ही पारौपथ द्रम्म भी कहते थे। लेखपद्धति नामक ग्रंथ से ज्ञात होता है कि ये द्रम्म तेरहवीं शती तक चालू थे। उस काल के व्यवहारपत्र या उधार-रुक्कों में लिखा जाता था—'श्री श्रीमालीय खरटंकशालाहत त्रिः परीक्षित हट्ट व्यावहारिक्य प्रचलित श्रीमत्पारौपथ रौक्यगृहीत द्रम्माः।' अर्थात् श्रीमाल नगर की टकसाल में आहत, तीन बा

परखे हुए, हाट के व्यवहार में आनेवाले, चालू, बिना मिलावट के, रोकड़ लिए हुए, पारौपथ द्रम्म। यह इबारत बहुत दिन पीछे तक चालू रही। शाहजहाँ-कालीन एक गिरवी-पत्र (ग्रहणक पत्र) में लिखा मिला है—'अहमदाबाद नी टंकसालना आकराकोरा षरा मासा ११॥ रुपैया ३०'। पुरातन-प्रबंध-संग्रह (सिंघी ग्रंथमाला, पृ० ५१) से ज्ञात होता है कि चाँदी का १ पारूथक द्रम्म ८ साधारण द्रम्मों के बराबर था (एकस्मिन् पारूथके अष्टौ द्रम्मा भवन्ति)। मारवाड़ में जालोर के राव उदयसिंह के मंत्री ने सुलतान से कहा—'वयं द्रम्मान् न जानीमः। पारूथकान् दास्यामः।'। खरतरगच्छ पट्टावली (१०१०–१३३६ ई०) में लिखा है कि मालवे के परमार राजा नरवर्मन् ने तीन लाख पारुत्थ द्रम्म जैन आचार्य जिनवल्लभ सूरि को देना चाहा, किंतु आचार्य ने चित्तौड़ के दो खरतरगच्छीय मंदिरों की रक्षा के लिये केवल दो पारूथद्रम्म लेना स्वीकार किया। 'लेख पद्धति' में विग्रहपाल या बीसलदेव के द्रम्मों का भी उल्लेख है जिन्हें जीर्ण विश्वमल्ल प्रिय द्रम्म कहा है, अर्थात् वे पहले के बने हुए थे। इन्हें एक बार 'श्रेष्ठ द्विवल्लक्य वीसलप्रिय द्रम्म' कहा गया है, अर्थात् इनमें दो बाल वजन की ओछी धातु की मिलावट थी। श्रीधराचार्यकृत गणितसार की टीका के अनुसार ३ रत्ती का १ बाल होता था। इसलिये द्विवल्लक्य द्रम्म में ६ रत्ती खोट या मिलावट रहती थी। इसी के अनुसार ८ बाल या २४ रत्ती का अर्ध गद्याणक और १६ बाल या ४८ रत्ती का एक गदियाण सिक्का होता है। युगप्रधानाचार्य गुर्वावली में इन्हें केवल 'द्विवल्लकद्रम्म' नाम से पुकारा गया है। छोटे सिक्कों में 'विंशक' ताँबे का सिक्का था। २० वराटक या कौड़ी की १ काकिणी होती थी जिसे बोड़ी भी कहते थे। ५ काकिणी या बोड़ी का १ पण होता था। संभवतः काकिणी या बोड़ी मूल्य में पण का चौथाई ताँबे का सिक्का था। बोड़ी या बोडिअ सिक्के का उल्लेख सबसे पहले मृच्छकटिक में मिलता है—

अत्थं शदं देमि शेवण्णं दे कहावणं देमि शबोडिअं दे। (अंक ७, श्लोक ४०)

[अर्थ शतं ददामि सुवर्णकं ते कार्षापणं ददामि सबोडिकं ते।]

सोने का सुवर्ण, चाँदी का कार्षापण और ताँबे का बोडिक, ये तीनों गुप्त-कालीन सिक्के थे (द्रष्ट० शुक्रनीति २।३५४, रजतस्वर्णताम्रादि व्यवहारार्थमुद्रितम्। व्यवहार्यवराटाद्यं रत्नांतंद्रव्यमीरितम्।)। मध्यकाल में षड्बोदिक द्रम्म नामक एक छोटे सिक्के का नाम जौनपुर से प्राप्त एक लेख में (१६२७, भंडारकर सूची, सं० ४६८)

आया है। यह भी संभवतः तांबे का सिक्का था। मध्यकालीन मुद्राओं की सामग्री का एक स्रोत गणित के ग्रंथ हैं जिनमें सिक्कों के नाम, मान, तोल आदि के साथ उनके व्यावहारिक प्रयोग की भी अच्छी सामग्री पाई जाती है। श्रीधर के गणित-सार पर श्री भोगीलाल संडेसरा का एक लेख परिषद् की पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, शेष सामग्री अभी तक अनधीत है।

इधर हाल में भारतीय सिक्कों पर ठक्कुर फेरू कृत 'द्रव्यपरीक्षा' नामक एक ग्रंथ प्राप्त हुआ है। ठक्कुर फेरू अलाउद्दीन खिलजी की दिल्ली की टकसाल के अध्यक्ष थे। उन्होंने संवत् १३७५ (ई० १३१८-१९) में अलाउद्दीन की मृत्यु से दो वर्ष पीछे यह ग्रंथ अपने भतीजे को सिक्कों का ज्ञान कराने के लिये लिखा था। ग्रंथ में १४९ गाथाएँ अपभ्रंश-प्राकृत-मिश्रित भाषा में हैं। इस ग्रंथ की एक प्रति कलकत्ते के जैन-भंडार में सुरक्षित है। श्री अगरचंद नाहटा की कृपा से मुझे यह प्राप्त हुई और अब उसकी फोटोस्टाट प्रतिलिपि करा ली गई है। परिषद् के लिये उसका संपादन-प्रकाशन किया जा रहा है। ग्रंथ के आरंभ में सोने चाँदी को शोधने की विधि है। यह विधि वही है जिसका विस्तृत उल्लेख अबुलफजल ने आईन-अकबरी में किया है। प्राचीन समय में एक राजा के चलाए सिक्के उसके बाद भी कई सौ वर्षों तक चलते रहते थे। राजा भोज के आदिवराह द्रम्म से लेकर उत्तर दक्खिन के अनेक सिक्के अलाउद्दीन के समय में भी चालू रहे। नाप, तोल और मूल्य का इसमें वर्णन है। ये सिक्के जब टकसाल में गलाने के लिये जाते थे तब उनकी चासनी ली जाती थी और उनके नाम, तोल, मूल्य और चाँदी की मात्रा का ठीक ठीक हिसाब लगाया जाता था। वही सामग्री इस ग्रंथ में है। ढोका, सोने की थकिया या लौंदी लेकर, उसे परगहनी में चुआकर उसकी गुल्ली या गुलेली बनाई जाती थी और फिर बराबर के टुकड़े काटकर पन्ना या पत्तर बनाकर उसे शोधते थे। इस प्रक्रिया का ब्योरेवार वर्णन ठक्कुर फेरू ने किया है। मुद्राओं में खुरासानी मुद्रा, गुर्जरी मुद्रा, मालवी मुद्रा, चंदेरी मुद्रा, जालंधरी मुद्रा, दिल्ली की तँवर राजाओं की मुद्रा, दिल्ली की मुसलमानी मुद्रा और अंत में 'अश्वपतिमहानरेन्द्र पातशाही अलावदीन मुद्रा' का विशद वर्णन है। गुर्जरी सिक्कों में कन्नौज के भोजदेव के (८३६-८९०) श्रीमदा-दिवराह द्रम्म और उसके पौत्र श्री विनायकपालदेव (९१४-९४३) की विनायकी मुद्राओं का उल्लेख है। सौभाग्य से विनायकी सिक्के अभी हाल में ही मुझे प्राप्त हुए थे, जो ठक्कुर फेरू के कथन की पुष्टि करते हैं (मुद्रापरिषत् पत्रिका १०।२८)। ठक्कुर फेरू ने सिक्कों के लिये मध्यकालीन भाषा का 'आछू' (अच्छु) शब्द प्रयुक्त

किया है। यह शब्द श्री प्रो० मीराशि जी को कलचुरि-नरेश पंपराज के ताम्रपत्र में प्रयुक्त मिला था (मु० प० पत्रिका, जून १६४१, पृ० ३७)। मेरठ की भाषा में यह अभी तक चालू है। देवगिरि की मुद्राओं में सींघण, महादेव और राम की मुद्राओं का उल्लेख है। इनके पद्मटंक कृष्णा जिले के राछपतनम् स्थान से प्राप्त एक निधि में मिले थे (न्यूमि० सप्ली०, १६२५, पृ० ६–६)। कलचुरि सं० ६४४ के रीवाँ के एक लेख में भगवन्मुद्रा का हवाला है। फेरू ने भी इसे 'भगवा मुद्रा' कहा है जो सोने, चाँदी और तांबे के मेल से त्रिधातु मुद्रा होती थी। अंग्रेजी बिलन के बने सिक्कों को द्विधातु या 'दुधाउ' कहा गया है। इस ग्रंथ में वर्णित कितनी ही मुद्राएँ अभी तक नामशेष हैं। उनकी पहचान करनी होगी एवं प्रत्येक प्रकार के सिक्कों में जो चाँदी की मात्रा दी गई है, गलवाकर उसकी पड़ताल करनी होगी। तभी ठक्कुर फेरू के कथन की सचाई परखी जा सकेगी।

मुगलकालीन सिक्कों के नामों और आपेक्षिक तोल, मूल्य आदि की सामग्री का बहुत अच्छा अध्ययन श्री होडीवाला ने फारसी इतिहास-ग्रंथों के आधार से प्रस्तुत किया था। वह आज भी मूल्यवान् है। मुगलों के बाद मराठाकाल में और कंपनी काल में बहुत प्रकार के नए सिक्के चालू हुए जिनके पचपन नामों की एक अच्छी सूची पुरानी बहियों से श्री चापेकर महोदय ने संगृहीत की थी और उसे मेरी प्रार्थना पर मुद्रापरिषद् की पत्रिका में प्रकाशित कराया था (६।५०,५१)। उनकी पहचान भी करनी शेष है। इस प्रकार वैदिक काल से लेकर आधुनिक समय तक के सिक्कों के संबंध में जो साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध है, उनका कुछ परिचय यहाँ देने का प्रयत्न किया गया है।

सिक्कों की भाँति ही प्राचीन स्थानों से प्राप्त मिट्टी की मुहरों का भी ऐतिहासिक महत्त्व है, किंतु अभी तक इस दिशा में आवश्यक एवं संगठित प्रयत्न नहीं किया गया। इस सामग्री की ओर विशेष रूप से सब सदस्यों का ध्यान आकर्षित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। राजघाट से प्राप्त लगभग दो सौ मुहरों से काशी और वत्स जनपदों के राजाओं के नाम मिले हैं। मघवंशी राजाओं के समय काशी और वत्स का जो पारस्परिक संबंध था उसपर मुहरों से जो प्रकाश पड़ा है वह सिक्कों से भी नहीं हुआ था। एक मुद्रा पर राजा कौत्सीपुत्र शिवमघ का नाम है जो गौतमीपुत्र शिवमघ से भिन्न है। राजघाट की इस सामग्री का अध्ययन हो चुका है और शीघ्र वह एपिग्राफिया इंडिका में प्रकाशित होगी। इधर नालंदा से प्राप्त मुहरों का नवीन

अध्ययन डा० अल्टेकर ने किया है जिसमें अन्य सामग्री के अतिरिक्त बालादित्य का नाम भी मिला है। संग्रहालयों में सुरक्षित मुहरों पर एक स्वतंत्र पुस्तक की बहुत आवश्यकता है जो इस विषय को विद्वानों के अध्ययन-क्षेत्र में ला सके।

यह देखकर प्रसन्नता होती है कि भारतीय मुद्रा-परिषद् की स्थिति इस समय देश की विज्ञानिक परिषदों में बहुत अच्छी है। उसके प्रकाशन, पत्रिका, उत्साही कार्यकर्ता और भविष्य की योजनाओं को देखकर इस परिषद् से ठोस कार्य की आशा होती है। विशेषतः डा० अल्टेकर महोदय की देखरेख में 'स्टैंडर्ड वर्क्स ऑव रिफरेंस' तैयार करने का कार्य बहुत कुछ आगे बढ़ा है। आगामी वर्ष में बयाना गुप्त मुद्रा-निधि पर ग्रंथ प्रकाशित हो जाने की आशा है, जिसके लिये भरतपुराधीश महाराजा श्री ब्रजेंद्रसिंह जी ने आरंभ से ही उत्साह प्रदर्शित करते हुए आर्थिक सहायता प्रदान की है। मुद्रा-परिषद् के कार्य में प्रत्येक प्रांत की मुद्राओं का कार्य सम्मिलित है, इसी लिये प्रादेशिक सरकारों ने परिषद् को आर्थिक सहायता प्रदान करने की कृपा की है। आगामी वर्षों में मुद्रा-परिषद् को अपने कार्य और अधिक विस्तृत और संगठित रूप में करना चाहिए और जैसा मैं आरंभ में कह चुका हूँ, इसके लिये अलग अलग मुद्राओं के विशेषज्ञों की आवश्यकता है। इसके लिये नए नए विद्वानों का मैं परिषद् की ओर से आवाहन करता हूँ।

महाकवि मेघविजय और उनके ग्रंथ

[श्री अगरचंद नाहटा]

जैन धर्म के चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपना उपदेश जनता की भाषा तत्कालीन प्राकृत में दिया था और लगभग पाँच सौ वर्षों तक जैन साहित्य का निर्माण प्राकृत ही में होता रहा। विक्रमीय प्रथम शताब्दी के लगभग अन्य दर्शनों के सूत्र-ग्रंथ संस्कृत में प्रचारित देख संस्कृत के व्यापक प्रभाव को ध्यान में रखते हुए आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र की रचना संस्कृत में की और प्रशस्ति आदि अन्य कई ग्रंथ भी उन्होंने संस्कृत ही में बनाए। उपलब्ध जैन साहित्य में संस्कृत में सर्वप्रथम ग्रंथ-रचना करनेवाले आचार्य उमास्वाति ही माने जाते हैं। इनका तत्त्वार्थ सूत्र श्वेतांबर एवं दिगंबर उभय संप्रदायों को मान्य है और दोनों संप्रदायों के आचार्यों की कई टीकाएं इसपर उपलब्ध हैं। इसके पश्चात् दिग्गज दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का संस्कृत-ग्रंथ-प्रणेताओं में प्रधान स्थान है। उन्होंने अपना विख्यात दार्शनिक ग्रंथ 'सम्मतितर्क' प्राकृत में रचा और न्यायावतारादि द्वात्रिंशिकाएं संस्कृत में बनाईं, जो अर्थगांभीर्य की दृष्टि से अनुपम हैं। इनका समय पं० सुखलालजी ने पाँचवीं शती निर्धारित किया है। आचार्य समंतभद्र भी उच्च कोटि के दार्शनिक विद्वान् थे और उन्होंने अपनी समस्त रचनाएं संस्कृत में ही की है। पं० जुगलकिशोर मुख्तार इन्हें प्रथम शती का विद्वान् बतलाते हैं, परंतु पं० सुखलालजी के मतानुसार ये आचार्य सिद्धसेन के परवर्ती विद्वान् हैं।

इनके पश्चात् तो पूज्यपादादि अनेक जैन विद्वानों ने संस्कृत में ग्रंथ-रचना की[1]

---

१ विशेष द्रष्टव्य "जैन-सिद्धांत-भास्कर" (वर्ष १६ अंक १) में प्रकाशित लेखक का 'जैन संस्कृत साहित्य का विकास' शीर्षक लेख।

और आज तक उनके द्वारा सभी विषयों के हजारों ग्रंथ, मौलिक एवं टीकाओं के रूप में, गद्य तथा पद्य में प्रस्तुत हुए हैं। यदि इन सबका केवल संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया जाय तो भी उसके लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ की आवश्यकता होगी। प्रस्तुत लेख में तो हमें संस्कृत साहित्य के इतिहास में उपेक्षित केवल एक जैन महाकवि के ग्रंथों का परिचय देना ही अभीष्ट है।

राष्ट्रभाषा हिंदी में संस्कृत साहित्य के इतिहास के नाम से कई ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, जिनमें सर्वप्रथम श्री महेशप्रसाद बी० ए० लिखित सन् १६२२-२३ में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् श्री सीताराम जयराम जोशी तथा श्री विश्वनाथ शास्त्री लिखित इतिहास सन् १६३३ में प्रकाशित हुआ। सन् १६३७ में श्री कन्हैयालाल पोद्दार लिखित इतिहास दो भागों में प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् श्री बलदेव उपाध्याय एवं श्रीगौरीशंकर उपाध्याय का संस्कृत साहित्य का इतिहास सन् १६४५ में प्रकाशित हुआ।

संस्कृत साहित्य के उपर्युक्त इतिहास-ग्रंथ ही अभी तक हमारे देखने में आए हैं। इनमें से पूर्व के ग्रंथों में तो मेघविजय जैसे महाकवि का नामोल्लेख तक नहीं किया गया। जोशी जी के इतिहास में इनके विषय में केवल दो पंक्तियाँ पंचाख्यान के कर्ता के रूप में प्रसंगवश पाई जाती हैं—"इन दोनों पंचाख्यानों के आधार पर सन् १६५६-६० में मेघविजय ने पंचाख्यानोद्धार नामक इसी तरह का ग्रंथ रचा।" जैसा आगे बतलाया जायगा, इनके रचे हुए अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण काव्यादि ग्रंथ प्राप्त है और उनमें से बहुत से प्रकाशित भी हो चुके हैं। इतिहास-ग्रंथों में उनका कहीं नाम तक नहीं मिलता, अतः पाठकों की जानकारी के लिये उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपाध्याय मेघविजय अठारहवीं शती के प्रसिद्ध महाकवि थे। इनका पांडित्य असाधारण था। काव्य रचने के साथ साथ इन्होंने व्याकरण, छंद, न्याय दर्शन, कथा, ज्योतिष, सामुद्रिक, मंत्र एवं अध्यात्म विषय के भी ग्रंथ लिखे। इनके जन्म-स्थान, जन्म-संवत्, मातापिता, वंश एवं दीक्षाग्रहण के समय आदि के संबंध में जानने का कोई भी साधन उपलब्ध नहीं है। इनके ग्रंथों से इनकी गुरु-परंपरा एवं इनके साहित्य-निर्माण-काल का ही पता चलता है। ये सतरहवीं शती के सुप्रसिद्ध तपागच्छीय जैनाचार्य हीरविजय सूरि की शिष्य-परंपरा में हुए थे, जिन्होंने सम्राट् अकबर को प्रभावित कर अहिंसा धर्म का बहुत प्रचार किया था। गुरु परंपरा की नामावली इस प्रकार है—

हीरविजयसूरि
|
कनकविजय
|
शीलविजय
|
कमलविजय | सिद्धिविजय[२] | चारित्रविजय

सिद्धिविजय
|
कृपाविजय
|
मेघविजय
|
मेरुविजय | भानुविजय[३]

कवि मेघविजय अपने समकालीन तपागच्छ नामक विजयप्रभ सूरि के बड़े भक्त थे, जिन्होंने इनको 'वाचक' एवं 'उपाध्याय' पद प्रदान किया था। इनका साहित्य-निर्माण-काल संभवत: सं० १७०६ (निश्चित रूप से १७१६) से १७६० तक है। अर्थात् ये ४५-५० वर्षों तक साहित्य-साधना करते रहे। फलत: लगभग तीन दर्जन ग्रंथ इनके प्राप्त हैं जिनमें से कई प्रकाशित भी हो चुके हैं। प्राकृत, संस्कृत और गुजराती तीनों भाषाओं में इन्होंने रचना की है। इनमें से कई ग्रंथ तो बहुत उच्च कोटि के हैं। पादपूर्ति काव्य रचने में ये विशेष रूप से सिद्धहस्त थे। मेघदूत, नैषध, माघ और किरात की समस्यापूर्ति में इनके रचे हुए काव्य उपलब्ध हैं और पाणिनीय द्व्याश्रय विज्ञप्ति लेख भी प्राप्त है। 'दिग्विजय' महाकाव्य इनका मौलिक महाकाव्य है जो तेरह सर्गों में समाप्त हुआ है। इनका सप्तसंधान महाकाव्य तो विश्व-साहित्य में अनूठा ग्रंथ है। इस ग्रंथ के प्रत्येक श्लोक में ऋषभदेव, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर—इन पाँच जैन तीर्थंकरों के साथ सुप्रसिद्ध महापुरुष राम और कृष्ण का चरित साथ साथ चलता है। द्विसंधान, त्रिसंधान एवं पंचसंधान काव्य तो संस्कृत साहित्य में मिलते हैं पर सप्तसंधान काव्य यह एक ही उपलब्ध है। कवि की विलक्षण प्रतिभा का इससे भली भाँति परिचय मिल जाता है। इनके

२—युक्तिप्रबोध की प्रशस्ति में इनके लुंपकों को सन्माननगर में जीतने का उल्लेख है।

३—पट्टावली समुच्चय में पृ० ११० में आठ शिष्यों तथा प्रशिष्य एवं उनके शिष्य कुशलविजय (सं० १८१० में आगरा के शीतलनाथ जिनालय के प्रतिष्ठापक) तक का उल्लेख है।

ज्योतिष के ग्रंथ भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। 'मेघमहोदय', 'वर्षप्रबोध' एवं 'हस्तसंजीवन' एतद्विषयक प्रधान ग्रंथ हैं। नीचे इनके समस्त ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

समस्यापूर्ति काव्य

(१) शांतिनाथ चरित्र—यह सुप्रसिद्ध नैषध काव्य की समस्यापूर्ति के रूप में शांतिनाथ प्रभु का जीवनचरित है। यह छः सर्गों का है। इसमें कवि ने नैषध काव्य के केवल अंत्य पाद को ही लेकर पादपूर्ति नहीं की, प्रत्युत प्रथम सर्ग में समस्त श्लोकों के चारों पदों की समस्यापूर्ति की है। ग्रंथकार ने अपने काव्य के प्रत्येक श्लोक में एक पाद नैषध के श्लोक का लिया है और तीन पाद अपनी ओर से जोड़े हैं। बत्तीस वर्ष हुए, जैन-विविध-साहित्य-शास्त्रमाला के सातवें ग्रंथांक के रूप में यह *पाइय-सद्द-महण्णवो नामक प्राकृत भाषा के कोश के निर्माता पं० हरगोविंद दास* द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुआ था।

(२) देवानंद महाकाव्य—यह 'माघ'-काव्य की समस्यापूर्ति के रूप में है। इसमें विजयदेव सूरि का जीवनचरित वर्णित है। आनुषंगिक रूप से विजयप्रभ सूरि जी का भी वृत्तांत दिया गया है। यह सात सर्गों का है। ऐतिहासिक काव्य होते हुए भी इसमें काव्यत्व की प्रधानता है। सं० १७२७ की विजय-दशमी को सादड़ी में इसकी रचना हुई। गुजरात के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रविद् एवं जैनागमों के विशेष अभ्यासी पं० बेचरदास द्वारा संपादित होकर सिंघी-जैन-ग्रंथमाला के सातवें ग्रंथांक में, तेरह वर्ष हुए, यह काव्य प्रकाशित हो चुका है।

(३) किरात समस्यापूर्ति—इसकी एक प्रति श्री विजयेंद्र सूरि के पास होने का उल्लेख पं० अंबालाल प्रेमचंद शाह ने दिग्विजय महाकाव्य की प्रस्तावना में किया है।

(४) मेघदूत-समस्या-लेख—मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप में यह एक विज्ञप्तिपत्र है जो कवि ने देवपाटण में अवस्थित विजयप्रभ सूरि को अवरंगाबाद (नवरंगाबाद) से लिखा है। इसमें कवि के माघ-समस्यापूर्ति काव्य का उल्लेख होने से इसकी रचना सं० १७२७ की निश्चित है। आत्मानंद सभा (भावनगर) से यह पहले प्रकाशित हुआ था। अभी मुनि जिनविजय द्वारा संपादित विज्ञप्ति-लेख-संग्रह में पुनः मुद्रित हुआ है। इसकी श्लोक-संख्या १३१ है।

(५-६) पाणिनीय द्व्याश्रय विज्ञप्तिलेख—विजयप्रभ सूरि एवं विजयरत्न सूरि को लिखे गए ये दो विज्ञप्तिपत्र हैं। इनमें ४-४ विश्राम हैं। इसकी ११ पत्रों की एक मात्र प्रति भांडारकर इंस्टीट्यूट (पूना) में है, जिसकी प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है। प्रथम विज्ञप्तिलेख १३८ श्लोकों का, दूसरा ४७ श्लोकों का है।

पादपूर्ति काव्य का निर्माण साधारण कार्य नहीं है। उसमें दूसरे काव्य के भाव की संगति बैठाते हुए अपना वक्तव्य दिया जाता है। कहीं-कहीं काव्य के पाद को भिन्नार्थ रूप में ग्रहण कर संगति बैठानी पड़ती है। पादपूर्ति-काव्य-निर्माण में कवि परतंत्र रहता है, अतः उसमें भावों की स्पष्टता कम होने से काव्य दुरूह हो जाता है। बंधन में रहकर भी स्वतंत्र प्रतिभा का परिचय देनेवाले सफल कवि बिरले ही होते हैं। उपाध्याय मेघविजय ऐसे ही सफल कवियों में हैं, जिन्हें अन्य-रचित काव्य के पदों एवं भावों को अपने अनुकूल बना लेने की अपूर्व क्षमता प्राप्त थी। इनके काव्यों को पढ़ने से लगता है मेघदूत, रघुवंश, माघ, नैषध, किरात आदि काव्य इन्हें कंठस्थ से थे और उनके भावों को इन्होंने पूर्ण रूप से से पचा लिया था।

जैन संस्कृत साहित्य में और भी बहुत से पादपूर्ति काव्य मिलते हैं जिनपर "जैनसिद्धांत भास्कर" (भाग ३ अंक २-३) तथा 'भावारिवारण पादपूर्तिस्तव' की प्रस्तावना में प्रकाश डाला जा चुका है। जैन पादपूर्ति काव्यों में जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय काव्य विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें मेघदूत के समग्र चरणों की पादपूर्ति की गई है। परंतु इस प्रकार के काव्य-निर्माताओं में मेघविजय सर्वाग्रणी हैं।

स्वतंत्र काव्य

(७) दिग्विजय महाकाव्य—इसमें श्री विजयप्रभ सूरि का जीवनचरित है। तेरह सर्गोंवाले इस काव्य में शब्दालंकार एव अर्थालंकारमय कवित्वपूर्ण वर्णन ही प्रधान है। इसमे विजयप्रभ सूरि जी के दिग्विजय अर्थात् उनके उदयपुर, शंखेश्वर, सिरोही, आगरा, बनारस, पटणा, समेतशिखर आदि मे किए हुए विहार और धर्म-प्रचार का वर्णन है। पं० अंबालाल प्रेमचंद शाह के संपादन में सिंघी जैन-ग्रंथमाला से यह पाँच वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है।

(८) सप्तसंधान महाकाव्य—यह नौ सर्गों का है और कुल ४४२ पद्य हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह एक अभूतपूर्व चमत्कारपूर्ण रचना है। इसमें ऋषभ, शांति, नेमि, पार्श्व, महावीर, राम एवं कृष्ण इन सात महापुरुषों के चरित

प्रत्येक श्लोक में श्लेष से वर्णित हैं। शब्दालंकार, अर्थालंकार, विविध छंद, अनुवर्णनादि महाकाव्य के सभी लक्षणों से यह युक्त है। जैन-विविध-साहित्य-शास्त्र-माला के तृतीयांक के रूप में (मूल मात्र) यह लगभग तैंतीस वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका था, परंतु श्लेषमय होने से टीका के बिना दुरूह लगता था। विजयामृत सूरि जी ने इसपर 'सरणी' नामक विस्तृत टीका बनाकर सुगमता कर दी है। इसका सटीक संस्करण सूरत की श्री जैन-साहित्य-वर्धक सभा द्वारा वि० सं० २००० में प्रकाशित हो चुका है। यह काव्य कवि की अंतिम रचना है। सं० १७६० में इसका निर्माण हुआ था।

(६) चित्रकोश—यह चित्रकाव्य रूप विज्ञप्तिपत्र है। हमारे संग्रह में इसके मध्य के चार पत्र प्राप्त हैं, जिनमें द्वितीय अधिकार 'नगर-वर्णन' सैतालीस श्लोकों का है। तीसरे अधिकार 'परमगुरुराज-वर्णन' के केवल चार ही श्लोक प्राप्त है। यह विज्ञप्तिलेख विजयप्रभ सूरि जी को सादड़ी भेजा गया था। इसकी पूर्ण प्रति अन्वेपणीय है।

कवि के रचे हुए अन्य भी कई विज्ञप्तिलेख प्राप्त है। सं० १७३०–४६-५१ के विज्ञप्तिलेखों का उल्लेख प्रो० हीरालाल कापड़िया ने भक्तामरम्तवादि की प्रस्तावना में किया है। एक विज्ञप्तिलेख की प्रति मुनि जिनविजय जी के पास भी अभी देखने में आई है।

(१०) लघु त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र—हेमचंद्राचार्य रचित त्रिपष्टिशलाका-पुरुष महाकाव्य का यह संक्षेप है और इसकी श्लोक-संख्या ५००० है। दूसरी प्रति पूने के भांडारकर इन्स्टीट्यूट में विद्यमान हैं और यह अभी अमुद्रित है। यह कोठारी वनराजा की अभ्यर्थना से रचा गया था।

(११) भविष्यदत्त कथा—धनपाल कृत अपभ्रंश की 'भविसयत्त कहा' की भाँति इसमें पंचमी-माहात्म्य पर भविष्यदत्त की कथा वर्णित है। पं० अंबालाल शाह के कथनानुसार इसकी रचना सं० १७५० के बाद हुई थी। पं० मफतलाल झवेरचंद गाँधी द्वारा संशोधित होकर यह दानदयामृत हिम्मत ग्रंथमाला से वि० सं० १९९२ में प्रकाशित हुआ है।

(१२) पंचाख्यान—पूर्णभद्र सूरि रचित पंचाख्यान का यह संक्षिप्त रूप है। इसकी एक प्रति बीकानेर राज्य के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में मेरे देखने में आई है, जिसमें रचना-काल सं० १७१६ और रचना-स्थान नवरंगपुर लिखा है। यह

प्रति सं० १७५१ की लिखी हुई है। इसमें ६६ पत्र हैं। ग्रंथ गद्य में लिखा गया है। कवि का मौलिक गद्य ग्रंथ यह एक ही है।

(१३) विजयदेव-माहात्म्य-विवरण—इस विवरण में कवि ने खरतरगच्छीय श्री वल्लभ उपाध्याय रचित विजयदेव-माहात्म्य नामक ऐतिहासिक काव्य के कठिन शब्दों का अर्थ स्फुट किया है। जैन-साहित्य-संशोधक-समिति से मुनि जिनविजय द्वारा संपादित होकर यह लगभग २०-२२ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था।

व्याकरण

(१४) चंद्रप्रभा (हेमकौमुदी)—आचार्य हेमचंद्र के सिद्धहेमव्याकरण की कौमुदी के रूप में प्रस्तुत ग्रंथ की रचना सं० १७५७ में आगरे में हुई थी। इसका ग्रंथ-परिमाण ६००० श्लोकों का है। कवि ने अपने शिष्य भानुविजय के लिये इसे बनाया और सौभाग्यविजय एवं मेरुविजय ने दीपावली के दिन इसका संशोधन किया था। जैन-श्रेयस्कर-मंडल (म्हेसाणा) से सन् १९२८ में यह ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है।

(१५) हेमशब्दप्रक्रिया—यह ३५०० श्लोक-परिमाण का मध्यम व्याकरण है। इसकी प्रति भांडारकर इंस्टीट्यूट (पूना) में है।

(१६) हेमशब्दचंद्रिका—विद्यार्थियों के प्राथमिक प्रवेश के लिये अत्यंत संक्षेप में तीन प्रकाशों मे यह ग्रंथ रचा गया है। हमारे संग्रह मे इसकी सं० १७६१ की लिखित प्रति है और पूने में सं० १७५४ की। मुनि चतुरविजय जी द्वारा संपादित होकर यह चाँपसी खीयशी कोठरा (कच्छ) से प्रकाशित हो चुका है। इसका ग्रंथ-परिमाण ६०० श्लोक का है।

छंदशास्त्र

(१७) वृत्तमौक्तिक—सं० १७५५ मे स्वशिष्य भानुविजय के पढ़ने के लिये कवि ने इसकी रचना की थी। इसकी १० पत्रों की प्रति मुनि विनयसागर के संग्रह में प्राप्त है। (विशेष परिचय के लिये द्रष्टव्य "जैन-सत्य-प्रकाश", वर्ष १२ अंक ५-६ में प्रकाशित लेखक का एतद्विषयक लेख।)

न्याय

(१८) मणिपरीक्षा—यह सुप्रसिद्ध नैयायिक गंगेश उपाध्याय के चिंतामणि ग्रंथ की आलोचना के रूप में लिखा गया था। इसमें चार विमर्श हैं। विजयप्रभ सूरि के

समय में इसकी रचना होने का उल्लेख होने से इसका सं० १७५० से पूर्व रचित होना निश्चित है। इसकी ८ पत्रों की एक मात्र प्रति भुवनभक्ति भांडार (बीकानेर) में उपलब्ध है।

शास्त्रीय आलोचना

(१६) युक्तिप्रबोध नाटक—सतरहवीं शती में कविवर बनारसीदास से दिगंबर संप्रदाय में एक वाणारसीय मत का प्रादुर्भाव हुआ। उसके एवं दिगंबर संप्रदाय के मतभेदों का इसमें विस्तृत रूप से खंडन किया गया है। श्री ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वेतांबर संस्था (रतलाम) से वि० सं० १६८४ में यह प्रकाशित हो चुका है। इसमें २२२ ग्रंथों के प्रमाणों के साथ खंडन किया गया है, इससे ग्रंथकार के विस्तृत अध्ययन एवं आलोचनापटुत्व का भलीभाँति परिचय मिल जाता है। इसकी रचना विजयप्रभ सूरि के समय में होने से इसका सं० १७४० के पश्चात् रचा जाना निश्चित है। मूल ग्रंथ प्राकृत गाथाओं में है। इस ग्रंथ का परिमाण ४३०० श्लोकों का है।

(२०) धर्ममंजूषा—इसमें ढूढकों (जैनों का स्थानकवासी संप्रदाय) का खंडन तथा जिन-प्रतिमा का मंडन आगमों एवं युक्ति के आधार पर किया गया है। इसकी प्रति बीकानेर के बृहद् ज्ञानभांडार में उपलब्ध है।

ज्योतिष

(२१) वर्षप्रबोध (मेघमहोदय)—इसमें उत्पातप्रकरण, कर्पूरचक्र, पद्मिनीचक्र, मंडलप्रकरण, सूर्य-चंद्र-ग्रहण का फल, प्रत्येक महीने की वायु का विचार, वर्षा होने और बंद करने के मंत्र-यंत्र, षष्टि-संवत्सर-फल, ग्रह के राशि पर उदय-अस्त का फल, अयन, मास-पक्ष-दिन का विचार, संक्रांतिफल, वर्ष के राजा-मंत्री, वर्षागर्भ, विश्वा, आयव्यय, सर्वतोभद्र चक्र तथा वर्षा के जानने के शकुनादि पर अनेक विषयों का विवेचन तेरह अधिकारों में किया गया है। ग्रंथ संस्कृत एवं प्राकृत में है तथा हिंदी एवं गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित भी हो चुका है। विजयरत्न सूरि के समय में इसकी रचना होने से यह सं० १७५० के लगभग लिखा गया होगा। इसका ग्रंथ-परिमाण ३५०० श्लोको का है। इसमें कई अनुपलब्ध ग्रंथों के उल्लेख एवं उद्धरण हैं जिनमें प्राचीन जैन ज्योतिष के अनुपलब्ध प्राकृत ग्रंथ भद्रबाहु-संहिता के उद्धरण महत्त्व के हैं।

(२२) हस्तसंजीवन—मूल ग्रंथ ५२५ श्लोकों का है जिसपर 'रेखाशास्त्र' नामक वृत्ति तथा 'सामुद्रिक लहरी' नामक ३७०० श्लोकों की स्वपोज्ञ विस्तृत वृत्ति प्राप्त है। सामुद्रिक हस्तरेखा के संबंध में प्रस्तुत ग्रंथ अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका अपर नाम 'सिद्धज्ञान'[४] भी है। ग्रंथ के महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही इसका प्रकाशन जैनेतर संस्थाओं ने भी किया है। वैसे मोहनलालजी ग्रंथमाला ने वृत्ति सहित एवं साराभाई नवाब ने गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।

(२३) उदयदीपिका—इसमें प्रश्नोत्तर निकालने की पद्धति का विशद वर्णन है। सं० १७५२ में श्रावक मदनसिंह के लिये प्रश्नोत्तर के रूप में इसकी रचना हुई थी। हस्तसंजीवनी वृत्ति का इसकी प्रशस्ति में उल्लेख होने से वह इससे पहले की निश्चित होती है। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। पूना के भांडारकर इंस्टिट्यूट में इसकी प्रति विद्यमान है।

(२४) प्रश्नसुंदरी—इसमें प्रश्नोत्तर निकालने की पद्धति संक्षेप में बतलाई गई है। इसकी प्रशस्ति में कवि के कतिपय ग्रंथों का रचना-क्रम भी निर्देशित है। ग्रंथ अप्रकाशित है।

(२५) रमलशास्त्र—इसका उल्लेख मेघमहोदय में किया गया है। इसकी रचना मेरुविजय के लिये की गई थी। ग्रंथ अभी अनुपलब्ध है।

यंत्र

(२६) वीशा यंत्रविधि—इसमें पद्मावती काव्य के विवरणानुसार वीशा यंत्र की विधि वर्णित है। अर्जुनपताका और विजय यंत्र की विधि भी इसमें बतलाई गई है। ग्रंथकार ने संभवतः अन्य भी कई यंत्र बनाए थे। प्रस्तुत ग्रंथ महावीर-ग्रंथमाला से प्रकाशित हो चुका है। प्रो० हीरालाल कापड़िया ने इसका नाम 'भूविश्वेत्यादि काव्यविवरण' लिखा है। कई विद्वानों ने अर्जुनपताका यंत्र को स्वतंत्र ग्रंथ माना है पर संभवतः ये सब एक ही ग्रंथ में सम्मिलित है।

अध्यात्म

(२७) मातृकाप्रसाद—इसकी रचना सं० १७४७ के पौष शुक्ल में धर्मनगर में हुई थी। इसमें 'ॐ नमः सिद्धम्' तथा 'वर्णाम्नाय' का विवरण है। ॐ शब्द का रहस्य भी इसमें स्पष्ट रूप से बतलाया गया है।

४—प्रो० हीरालाल कापड़िया ने इसे स्वतंत्र ग्रंथ माना है, पर पं० अंबालाल के निर्देशानुसार यह हस्तसंजीवन का ही नाम है।

(२८) अर्हद्गीता—इस ग्रंथ में ३६ अध्याय हैं। इसमें जैन दर्शन का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। महावीर ग्रंथमाला से यह प्रकाशित भी हो चुका है।

(२९) ब्रह्मबोध—इसका उल्लेख मात्र प्राप्त है, प्रति नहीं मिली है।

स्तोत्र तथा फुटकर रचनाएँ

(३०) तपागच्छ पट्टावली—इसमें विजयसेन सूरि से विजयप्रभ सूरि तक का ऐतिहासिक वृत्तांत है। मूल चार गाथाएँ प्राकृत में हैं जिनपर विस्तृत विवरण है। मुनि दर्शनविजय द्वारा संपादित पट्टावलीसमुच्चय में यह प्रकाशित हो चुकी है। सं० १७३२ के लगभग इसकी रचना हुई थी।

(३१) पंचतीर्थस्तुति सटीक—श्री देसाई के लेखानुसार इसके प्रत्येक श्लोक से पाँचों तीर्थंकरों से संबंधित पाँच अर्थ निकलते हैं।

(३२) शिवपुरी-शंखेश्वर-पार्श्वनाथ-स्तवन—इसकी श्लोक-संख्या २१ है। यह निम्नोक्त भक्तामरटीका के साथ प्रकाशित हो चुका है। इसकी सं० १७३६ की लिखित प्रति उपलब्ध है।

(३३) भक्तामरटीका—यह सुप्रसिद्ध भक्तामरस्तोत्र की टीका है और देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार निधि (सूरत) से प्रकाशित भक्तामर-कल्याणमंदिर नमिउण-स्तोत्रत्रय में प्रकाशित हो चुकी है।

लोकभाषा की रचनाएँ

(३४) विजयदेव-निर्वाण-रास—जैन ऐतिहासिक रासमाला और जैन ऐतिहासिक सभायमाला भाग १ में प्रकाशित है। कई विद्वानों ने इसे कवि के गुरु कृपाविजय द्वारा रचित बतलाया है, पर वह ठीक नहीं हैं।

(३५) पार्श्वनाथ नाममाला—इसकी रचना सं० १७२१ में दीवबंदर में हुई है। पद्य-संख्या ३५ है। 'प्राचीन-तीर्थमाला' में यह स्तवन प्रकाशित भी हो चुका है।

(३६) थावच्चाकुमार सभाय (३७) सीमंधरस्वामी स्तवन

(३८) चौबीशी (भाषा) (३९) दशमत स्तवन

(४०) कुमतिनिवारण हुंडी गाथा ७९ (यति रामलालजी के संग्रह में)

इनके अतिरिक्त स्वर्गीय मुनि विचक्षणविजय जी के पास इनके रचे 'रावणवंशस्येतिहासः' एवं 'रावणपार्श्वनाथाष्टक' आदि ग्रंथ थे, ऐसा प्रो० हीरालाल कापड़िया ने उल्लेख किया है।

श्रुति-साहित्य की काव्योन्मुखता

[श्री राजेंद्रनारायण शर्मा]

श्रुति साहित्य में परमात्मा के विशेषणों में कवि शब्द का व्यवहार अनेक बार हुआ है। ईशोपनिषद् तो 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' कह छुट्टी पा लेती है, किंतु ऋग्वेद गुण-व्यापार समन्वित व्याख्या के साथ कहता है—'पश्य देवस्य काव्यम्, न ममार न जीर्यति'। अर्थात् देव के काव्य (इस सचराचर सृष्टि) को देख, न जीर्ण होता है न मरता है। प्रथम कवि परमात्मा की ऐसी अजरामरवत् अनंत रमणीय रचना के द्रष्टा वेदों के ऋषि, कवि-परंपरा में आदि रचनाकार के बाद पहले कवि हुए। परमात्मा की कविता के रस-रहस्य के संवेदनशील इन मनीषियों ने जिन मंत्रों की रचना की उनमें अनेक आदि काव्य-साहित्य की कोटि के हैं। यहाँ उनके उद्धरणों का अभिप्राय रचना-प्रपंच-चारुत्व में उनकी अनुभूति की गहराई तथा रस-प्रतीति की तीव्रता का निदर्शन है। वेदों में सृष्टिकर्ता के द्वारा सर्ग-संपादन के प्रसंग में सुंदर से सुंदर मनोहारी वर्णन भरे हैं। उनसे सृष्टि-निर्माता के, एक महाकवि की भाँति अपने हृदय की संवेदना के सजीव स्फुलिंगों का जाल फैलाने का परिचय मिलता है। इन सरस सूक्तियों को सारगर्भित मंत्रों के रूप में रखनेवाले ऋषि कवियों की ऊँची कल्पना-शक्ति, संवेदनशीलता और भावाभिव्यंजन-कुशलता अलौकिक है।

श्रुति पूर्व में उस निबिड़ वैश्व विष्कंभ की नीरव अस्पष्टता को भेद, ज्ञान-चक्षुवाले मनीषियों ने पहले-पहल देखा। तब न दिन ही था और न रात। इनके सूचक उपकरणों का भी चारों ओर प्रतिषेध-सा व्याप्त हो रहा था। दिशा और काल की कल्पना भी नहीं ठहर पाती थी। जान पड़ता था, कुछ भी नहीं है। पर कुछ तो अवश्य था! वह क्या था? वह 'है' (सत्) और 'नहीं है' (असत्) दोनों का प्रेरक (भावाभावप्रेरकः), सबका सविता (जनिता, पिता या पालक), वेद्यांतरस्पर्शशून्य, अविनश्वर, प्रजापति, एकाकी 'शिव' था, जिसके कुहक से चराचर-रचना-प्रगल्भ ज्ञानमयी प्रज्ञा की (प्रतिभा की) शाश्वत चैतन्य-धारा निकल-

कर विभु को अपनी अखंड कृतियों से भरती रहती है। वही समस्त अनुभूतियों के आकर सर्वगत देवता 'शिव' थे—

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी॥

—श्वे० उप० ४।१८

उसी रहस्य-परिभेदन की स्पष्टि के उजाले में पूर्व ऐतिहासिक युग के चिन्नेत्र मनीषियों ने वह दृश्य भी देखा जब विश्व-रचनाकार के आदि सर्जन-समारंभ से पहले, निर्ज्योति या न समझ में आनेवाली शब्दहीन स्तब्धता के अवकाश में, गाढ़-नील आवरण और तुहिन-धूम-आकृति वाली उत्ताल तरंगों पर, गहन गंभीरतम तुषार की लहरें लोट रही थीं—लिपटी जा रही थीं। उनके आरपार कुछ न सूझता था। हाँ, उस निर्वात और सीमाविच्छिन्न महाशून्य में एक अनंतव्यापी विश्व की रहस्य सत्ता, अव्यक्त के तुषारावरणों से आच्छादित ज्वालामुखी के कुक्षिगह्वर में प्रथम परिग्रह की, काम की (काम = विश्वानुभूतियों का महाश्रयन), आदि इच्छाशक्ति की, ज्योतिशिखा-सी धधक रही थी। गुहांतर में अपनी स्वेच्छा-स्वधा के विनिःश्वसन से झिलमिल करती हुई उस ज्योति का महाप्राण अपनी नाम-हीनता के निरतिशय मध्यातःकरण में धीरे-धीरे परात्पर काल से अकेले स्पंदित हो रहा था। उस रिक्त निस्सीमता की गहराई मे उससे परे कहीं भी कुछ और सत्तावान् न था।

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किञ्चनास। —नासदीय सूक्त, ऋ० १०।१२६।२

उस प्रकाशानंद चेतनामय अखंड सत्ताधारी के चिरंतन स्पंद से यह विश्व उसी भाँति निकलता, उसमें प्रविष्ट होता और पुनः उसी (अव्यक्त) से विनिःसृत होता देखा गया जैसे अग्नि से स्फुलिंग या ऊर्णनाभि (मकड़ी) से तंतु-समूह। जैसे पृथ्वी से वनस्पति-राजि समुद्भूत होती, मनुष्य की देह से केश-लोमादि निकलते हैं, वैसे ही सत्ता और चेतना के अपरिमेय केंद्र से विश्व का सर्जन, प्रसारण और निष्क्रमण समाहार चलता है।[1]

१—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या ओषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

—मु० उप० १।१।७

उसी रमणीय दृश्य में उन ऋषियों ने देखा कि उस विराट् पुरुष (पुरुष = पुरि शयानो याति; पुरि = हृदयाऽकाशे, अन्तर्व्योम्नि) के समीप सूर्य, चंद्र, तारक, विद्युत् और महा-अग्नि कोई भी अपने प्रकाश की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी प्रभा अपनी नहीं प्रत्युत उसी आलोकपुंज, ज्योतिर्मय की है जिसके चमकने से ही ये सब चमकीले लगते तथा जिनकी ही सौंदर्य-विभा के प्रतिभासन से ये प्रतिभासित होते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ मु० २।२।१०

सब दिशाओं को[२] अपनी उज्ज्वल ज्योत्स्नाभिव्यक्ति से प्रकाशित कर चमकनेवाले प्रखरतेज सूर्य के समान भास्वर उस श्रेष्ठ ज्योत्स्नाशाली देव का भास-स्पर्श करने ऋषि रूप कवियों की दृष्टि गई, जिसके मन से—संकल्प से चंद्रमा (सुधांशु), नेत्रों से लोकचक्षु सूर्य, श्रुति-कुहर से पवन और सप्तप्राण तथा तैजस-स्थान मुख से 'वाग् माता' अग्नि के प्रादुर्भाव का प्रत्यक्षीकरण मंत्रद्रष्टाओं को हुआ तथा जिसकी गाथा यजुर्वेद के द्वारा उन्होंने इस प्रकार गाई—

चन्द्रमा मनसो जाता चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

उस कवि की अखंडमंडलाकार 'निष्कल' काया का पार न पाकर ऋषियों की सुसूक्ष्म दृष्टि भी लौट पड़ी, क्योंकि वहाँ दृष्टि-दर्शन-दृश्यों को विराम सा लग गया।

जैसे जगत् का समस्त वारिवेग अपने उत्स सागर की ओर, अग्नि की समस्त अर्चियाँ अपने समुदय-केंद्र सूर्य की ओर, सब दिशाओं से प्रतिक्षण अनुधावित हैं वैसे ही, अनुभूति की दृष्टिधारा भी अपने महान् अयन की ओर प्रतिपल प्रवाहित होती रहती है। विश्वानुभूति के उस महासागर में अनुभव की सत्ता का निमज्जन ही उसका परम अभीष्ट है। यही कारण है कि परम आत्मा में पूर्ण एकत्व (तन्मयत्व) के अभीप्सु 'प्रयत्नायतमान' योगी को, कृष्ण (योगेश्वर) की 'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं' वाली सलाह न मानकर वहीं दृष्टि जमाने का आदेश अपरोक्षानुभूति-

२—सर्वादिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् ॥
—श्वेत० ५।४

कार शंकराचार्य ने इन पंक्तियों में दिया—'दृष्टिदर्शनदृश्यानाम् विरामो यत्र वा भवेत्। दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या...... ॥'

वहाँ दृष्टि रमाने से दीख पड़ा व्रणरहित निष्कल और निष्कलंक, उज्ज्वल तथा अपापविद्ध, पूर्ण निर्दोष और अपरिच्छद धवल तुषार वर्ण वाला—शुक्रम्[3]—अपने तेजसमूह से जल रहा है। जान पड़ा यही विशेष ज्ञान का, स्वयंभूत प्रज्ञा का, एक अधिपति मनीषी है। 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' कवि है जो समस्त प्राणिजगत् को यथायोग्य आनंद-रस के अभिवर्षण से सींचकर उनकी निखिलार्थ परितृप्ति करता है—

> सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं ।
> कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ईश० ८

विश्वात्मा का दर्शन अनुभूति की आँखों से कर लेने पर विभक्त पार्थिव सत्ता का ज्ञान ही लुप्त हो जाता है। नमक की गुड़िया समुद्र की गहराई जानने के लिये जाकर लौटती नहीं देखी गई। उसका शरीर सागर की विराट् देह में समाकर उसकी गहराई और गरिमा का, मान-मर्यादा का पार तो पाता है किंतु इस ज्ञानाभिक्रम में गुड़िया का भी समुद्र बन जाता है। अग्नि के दाह का बीज ग्रहण करने के लिये उसमें प्रविष्ट पदार्थ स्वयं अग्नि हो जाता है। श्रुति के—'···य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति' वचनानुसार उस अमृत को जाननेवाला स्वयं अमृत हो रहता है। जिसने उसे जाना वह वही हो गया (तन्मया अमृता वै बभूवुः)। अपिच, जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई —तुलसीदास।

जब तक ज्ञान की चेतना नहीं मिली थी तब तक ऋषि (तत्त्व-जिज्ञासु) ऐसी पंक्तियों के द्वारा—

> हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
> तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ ईश० १५

विश्व-सत्य के रमणीय मुखमंडल से सुनहला (हिरण्मय) घूँघट हटाने की प्रार्थना भगवान् ज्योतिर्मय से करते रहे। किंतु 'तपःप्रभावाद्देवप्रसादात्' अज्ञान के आवरण की यवनिका हटी, इनके अंतर्दृग खुले, तब जो कुछ दीख पड़ा उसका

३—श्रुति के 'तच्छुक्रम् ज्योतिषा ज्योतिः' तथा गीता के 'कवीनामुशना कविः' से 'शुक्रम्' कवि है।

साश्चर्य अवलोकन कर वे सपुलक कह उठे—अरे भगवन्! तुम्हारा (अन्यतम सत्ताधारी कल्याणनिधि देवाधिदेव का) यह मधुरतम रूप[४] जिसे हम देख रहे हैं, यह तो आपादतलमस्तक वही है जो हम (अहम्) हैं। जो परम प्रेमनिधि सुदीप्त आदित्य-मंडल में है वही यह 'मैं' (अहम्) भी तो है—योऽसावादित्ये पुरुषः सोहमस्मि।

उसी महासत्ताधारी में तपस् की महान् शक्ति से असर्जित सर्गावस्था के बीच वह एक (अनेजदेकं) प्रस्फुटित हुआ दीख पड़ा। उस एक में पहली बार महा स्वेच्छा-कंपन की तरंग से स्वभावतः सृष्टिविस्तार की प्रवृत्ति अथवा रचनाप्रगल्भ लीलाविग्रह की सुंदर कामना प्रादुर्भूत हुई। उस सूत्रात्मा एक के और मनन करने पर इस महाकामना ने अपना प्रकृत रूप आदि-बीज 'प्रेम' की कला में प्रकट किया। तब हृदय में आसम्यक् उस अन्वेष्टव्य की खोज करनेवाले तत्त्वाभिनिवेशी ऋषि प्रचुर अनुभाव और विमर्श के बाद मनीषी (ज्ञानात्मक) अथवा कवि होकर ही जान सके कि सत् को असत् से बाँधने, विराट् को अणु-अणु अथवा पूर्ण को तदीयांश से युक्त करने तथा नाम (शक्ति चेतना या स्पिरिट) को रूप (आधार या यूनिवर्सल मैटर) देने या निरुपाधिक ब्रह्म में उसके सोपाधिक विपर्ययशील दृश्य सृष्टि के प्रथम निबंधन (लक्षित संबंध) का कारण यही महाकाम है।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीद्।
सतोबन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥ —ऋ० १०।१२६।४

यह स्मरण रखना होगा कि वेदों में प्रेम के पर्याय स्वरूप सृष्टिप्रवर्तक महाकाम शब्द का ही प्रयोग हुआ है। चैतन्य को अचेतन से युक्त करनेवाली प्रेम की उस महाकामना का हृदय में अन्वेषण करने पर जिन्होंने पता पाया, जिनके उज्ज्वल अंतःकरण में सबसे पहले उस विश्वव्यापी एक अव्ययी प्रेम-सत्ता (इयं विसृष्टिर्यत आबभूव) की ज्योति का उन्मीलन हुआ, वे थे कवि और मनीषी। अपने ही अभिजात आलोक का लोक-तिमिर से, अमृतमय अनंत जीवन का (उसके पुनरांकुरण हेतु) मृत्यु से, नव विकास के लिये द्वंद्व-निबंधन करनेवाले उस अलौकिक महाकाम को—जिससे निकलकर जगती की समस्त लोक-कामनाएं अंत में फिर उसी में अपनी सत्ता गँवा कर अनंत विश्राम करती हैं—जो जान सके, प्रज्ञा से पकड़ सके, आदि स्रष्टा के बाद सच्चे कवि वे ही थे।

४—यत्ते कल्याणतमं रूप तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि। —ईश० १६

उषा की अरुण-कांति-लिप्त कंचन किरणों को तुषाराघृत सिंदूरी उदयाचल पर प्रभाविकंपित पुलकविह्वल नृत्य करते देखकर प्रथम श्रेणी के सहृदय, विशदीभूत मनोमुकुरवाले उन ऋषियों के अंतःकरण में कोमल कोमल कमनीय कविता के मधुर हर्षजात भावों का सरस संचार हुआ, जिनकी हिलोरों में निमग्न होकर अपने मुग्ध हृदय में उन्होंने तन्मयीभूत आस्वादन-क्रिया से प्रतिपन्न आनंद-रस की अपार सृष्टि की। स्वानुभूति की तीव्रता की सिहर से, परिपूर्ण कुंभ के छलकने के समान उनकी रागात्मक वृत्तियाँ तरंगायित हो उठीं। भाव-स्पंद और हृदय-संवाद से चित्त की तदात्मयी सुकुमार वृत्तियों ने हर्ष-प्रतीति रूप रस को, स्वांकुरित अभिव्यंजना के आवेशवश समुचित, तारुण्यमय और मनोहारी पद्यों (अनुकांत मंत्र रूपी ऋचाओं) का सुंदर रूप दिया। उषा पर हृदयहारी भिन्न तुकवाले छंद[५] बने। प्रकृति के स्निग्ध-श्यामल मधुर क्रोड़ में स्वच्छंद विहरण करनेवाले संसार के आदि सहृदयों (मनुज कवियों) की वाणी का वर्णनात्मक स्रोत नगराज की हिम-हेममयी 'तलहटी' में प्रवहमान हुआ। ऋग्वेद में इस प्रकार की अविश्रांत काव्य-सुधारस-निष्यंदिनी अनेक ऋचाएं पाई जाती हैं।

अपनी असंख्य किरणों से आलोक-चूर्ण बरसाकर जगती के दारिद्र्य, दुःख, अंधकार तथा अज्ञान-कुहर का नाश करनेवाले, वनस्पतियों के जीवनदाता, प्रजा-पालक और सबकी बुद्धि के प्रेरक भगवान् भास्कर प्राण के साक्षात् स्वरूप हैं। अंतरिक्ष के सुनील अवकाश में हेमकूट के उत्तुंग शिखर पर रश्मिमालाकुल अवधूत ज्योतिमंडल को मंगल-घट सा धीरे-धीरे प्राची से उठते देखकर आनंद-गद्गद ऋषि-मंडली मोहित हो जाती है। हृदय उस अलौकिक शोभा और श्रद्धा से भर उठता है। उनके मस्तक नमस्कार-उक्ति के विधान में स्वयं झुक जाते हैं और रसावेश में प्रकृति-सौंदर्य के उपासक वे ऋषि कह उठते हैं, अरे यह देखो—

> विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
> सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥

यह स्तवन प्रशंसा के विशेषणों, सुंदर प्रतीकों से शबल अर्थों और ध्वनन-शील शब्दों का कवित्वपूर्ण संकलन है। इनके प्रणेता कवि थे इसमें संदेह नहीं। दिवाकर की दीप्त किरणें इनके लिये यशोद्घापिका शुभ्र पताकाएं हैं—'अदृश्रमस्य केतवो विरश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा।' प्रभात के सोन्मीलनकारी

५—अनियमवद्वाक्य (सूत्र) या अबद्धपद छंद।

प्रहरों में अवदात अंतःकरण वाले जीवनधर किंतु जीवन्मुक्त ये मेधावी उषा के आगमन को जिस दृष्टि से देखते थे उसे ऋग्वेद के उषा संबंधी मंत्रों में देखिए।

लज्जा की ललाई का मनोहर दुकूल धारण किए मस्त चाल से धीरे-धीरे अपने (दिग् व्योम) पथ का अतिक्रमण करती, समय का आवर्तन-चक्र (चूड़ियों सा) घुमाती, सुंदर नेत्रोंवाली 'सूनरी' (सुष्ठु नेत्री, या सुष्ठु नयति) जगत्त्रय की प्रबंधदात्री उषा नवयुवती की भाँति (योषेव) आती है। चलती ऐसी है मानो उसके पैर हों (पद्वत् ईयते)। यद्यपि वह निःशब्द आगे बढ़ती है, पर उसकी आहट से वनों में मधुर कलरव जाग उठते हैं। अपने अपने नीड़ों में बैठे या सोए हुए पक्षी जो उसे मिलते हैं उनको उड़ाती हुई वह वन-रमणी सी आ रही है—

आ घा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।
जरयन्ती वृजिनं पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिणः॥ ऋ० १।४८।५

प्रत्यूष-प्रभा के प्रकृति-सौंदर्य के सार्थव्यक्त रूप-योजना वाले ये प्राचीन वर्णन आज भी अपने उद्गायक ऋषियों के हृदय की काव्यपूर्ण रागरसिकता का परिचय देते हैं। तब हृदय के इन सहज-विनिर्मुक्त भावोद्गीरणों की अभिव्यक्ति के उपर्युक्त समस्त पदों और श्लोकों के बंध की परंपरा का आविर्भाव न था। कदाचित् इसीलिये संगीतात्मक या सहज गेय न होने से ये पंक्तियाँ काव्य-साहित्य में वह स्थान पाने से वंचित रहीं जो लयतुकादि-युक्त पदों को मिलता है। किंतु जहाँ तक भाव की सीधी-सादी हृदयग्राहिणी आरंभिक अभिव्यक्ति का और रस-प्रतीति का संबंध है, इनकी महत्ता सामाजिक की दृष्टि में कम न होकर इनके निर्माणयुग, विकास और रचनाकाल की परिस्थिति के विचार से आज भी अतर्क्य है। 'कलातीत' (कलाओं से अतीत) की नित्य ज्ञानगाथा का यह साहित्य (वैदिक साहित्य) वस्तुतः शब्द-विन्यास-कौशल की अपनी दृढ़ सत्ता के लिये व्यंजना में मानस की, आत्मा की, संकल्पात्मक अनुभूति को ही मूल आधार मानकर चला है। विषय के आध्यात्मिक मनोभावों से शबल होने के कारण शब्द-प्रपंच के बाह्य आवरण 'शब्दजालं महाऽरण्यं चित्तभ्रमणकारणम्'—पर ध्यान न देकर सारभूत सूत्रों के रूप में ही अर्थ-निरूपण का प्रयास किया गया है, भले ही वाक्यों में व्यावहारिक काव्यचारुता की पूर्णता न हो; क्योंकि वह तो इन आर्य-साहित्य-प्रणेताओं का प्रधान लक्ष्य न था, यहाँ वे अपौरुषेयशास्त्र[६] के कवि स्वरूप से सम्मुख आते हैं। फिर भी

६—अपौरुषेय शास्त्र के अंतर्गत वेद (उपांग सहित) श्रुति मंत्र और ब्राह्मण सब हैं।

भावुकता और जगन्मंगल-भावना की सुकुमार उत्सुकता अनुरोध बनकर उनके हृदय से बाहर झलक ही पड़ती है। मनीषियों के अंतःकरण का लालित्य उफनकर अनुभूति के संचित संस्कारों की सरसता के प्रभाव से शास्त्र-साहित्य को काव्योन्मुख कर देता है। भाव के अनुरूप शब्द-चयन भी होने लगता है। नीचे वसुधातल पर प्रत्येक पार्थिव धूलिकण, अंतरिक्ष में घूमता हुआ प्रत्येक ज्योतिपुंज, एक ही मधुरिमा से आक्रांत हो जाता है। उस रस-व्यापकता में—'मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमान् अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः' ऐसी अभिव्यक्तियाँ निर्झर सी झर पड़ती हैं। यहाँ केवल ऐहिक लोक-सिद्धांत और तथ्य का सूत्र-संकलन नहीं है जो कि धर्मशास्त्र का एक विज्ञानमय व्यापार है। विकल्पात्मक सीमा से ऊपर उठकर इनमें श्रेय और प्रेय दोनों के आत्मसामंजस्य का विनियोग लक्षित होता है।

उषा-प्रकरण में ही आगे चलकर इनकी वाणी का विलास विशेषतामय हो जाता है, जब ये कहते हैं—प्रकाश की पुत्री (दुहितर्दिवः) यह कांतिलिप्त उषा सूर्य और चंद्र की मधुरोज्ज्वल ज्योत्स्ना लेकर हम लोगों के लिये चारों ओर प्रभूत शोभा का विभव विकीर्ण करती हुई स्थूल-सूक्ष्म-चेतनाचेतन वस्तु-जगत् को निज चारुता से वैसे ही प्रकाशित करती है जैसे सुकन्या अपने शील से माता-पिता और पति उभय कुलों की शोभा बढ़ाती है—

उषा आभाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु ॥ (१।४८।९)

फिर वह कैसी है, उसकी क्या सौष्ठव-प्रणाली है, इसका विविध वर्णन करते हुए वे उससे ही कहते हैं—ओ चित्र-विचित्र धन-रत्नादि से सुशोभित (चित्रामघे) रमण-साधन 'यानों' और रंग-बिरंगी ज्योतियों से जटित रमणीयलोचने उषे ! तुझ में ही विश्व के चराचर जीवन के अनुप्राणन और ओज-धारण की प्रेरणा है। इसलिये तू हम लोगों की भी श्रवण योग्य बातें सुन (श्रुधि)—

विश्वस्य हि प्राणनं जीवनं त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।
सा नो रथेन बृहता विभावरि[७] श्रुधि चित्रामघे हवम् ॥ (१।४८।१०)

उन सुनने और सुनाने योग्य बातों की परिग्रह-प्रणयिनी अनुरोध-भावना भी दर्शनीय होती है। उषा को 'गोमती'—इंद्रिय-चेतना-संपन्न प्राणी-सा संबोधित कर वे सुकवि कहते हैं—सब इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराने में प्रवीणा तू ऊपर से अलौकिक

७—या विविधतया भाति तत् सम्बुद्धौ।

गुण-संपन्न सत्त्वों को हम सोमपान करनेवालों के लिये (सोमपीतये[८]) ला दे। और वही तू पृथ्वी की प्रशंसनीय किरणावलियों से युक्त इंद्रियोंवाले, विज्ञान और अन्नमय (प्राणो वा अन्नम्—तै०) उत्तमोत्तम ओजवान् तुरगमय प्राण को हम मानवों में धारण कर—

विश्वां देवाँ आ वह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम्।
सास्मासु धा गोमदश्वावदुक्थ्यमुषो वाजं सुवीर्यम्॥ (१।४८।१२)

इसी स्वर में एक उक्ति और है—

यस्या रुशन्तो अर्चयः प्रतिभद्रा अदृक्षत।
सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसमुषा ददातु सुग्म्यम्॥ (१।४८।१३)

अर्थात् जिस उषा की तमसविनाशिनी मंगल-ज्वालामयी किरणें ('भद्रा अर्चयः') प्रत्यक्ष हो रही है वह अपनी रूप-विभा से आच्छादित करनेवाली शोभन राज्यलक्ष्मी हम लोगों के लिये विश्व को प्रदान कर रही है।

इस प्रकार एक सुलक्षणा युवती के शुभागमन से जिन मधुर भावों का उन्मेष, जिन सुखानुभूतियों का समुदय और जिस मंगल का समारोह मानवजगत् में छा जाता है उन सबका रूपक के व्याज से सांकेतिक ध्वनिमिश्र[९] यह वर्णन अपनी प्रशंसितयों से आज भी अपने प्रणेताओं की ऊर्ज प्रतिभा का परिचय दे रहा है। इनमें अनुभूति की विशिष्ट सत्ता है। यही हेतु है, शब्दों और वाक्-समूहों की लाक्षणिकता में समय-समय पर बड़ा विपर्यास उत्पन्न होने और तत्समयापेक्षी व्यापक रुचिभेद उत्पन्न होने पर भी इनकी मौलिक रमणीयता में कमी न आने पाई। अपने निर्माणकाल की 'अनुवर्तिनी' उत्तम श्लाघा और समादर की पात्रता का वहन ये आज भी उस समाज में कर रहे हैं जो इनमें आरोपित ब्रह्मवाक्यता की पुनीत परंपरा में विश्वास न कर इन्हें केवल इतिहास-साहित्य की दृष्टि से देखता है।

प्रकृति की, ज्योतिष्पति की सुकन्या उषा के प्रति राग और आशंसापूर्ण हृदयहारी संबोधनों से भरे काव्य-गुण-संपन्न छंद, इनसे भी अधिक सुंदर पद्यप्राय मंत्र, ऋग्वेद के कवियों की गहरी भावुकता, वर्णनपटु काव्यकुशलता और व्यंजना-शक्ति का बहु विज्ञापन कर रहे हैं। ये मंत्र भी हैं; काव्य भी हैं। इनके रचयिता ऋषि भी थे; कवि भी। क्योंकि रस कहीं भी हो, वह अनेक नहीं, एक है।

८—सोमपीतये, सोमानां पीतिः पानं यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन्।

९—एक उद्भट वेदभाष्यकार के मतानुसार उक्त मंत्रों में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है।

वैदिक साहित्य में राम-कथा का बीज

[श्री चंद्रभान]

पुराणों में वर्णित तथा लोक में प्रचलित अनेक कथा-कहानियों का बीज वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। रामायण के अध्येताओं के सम्मुख यह प्रश्न रहा है कि राम-कथा का कोई सूत्र वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है अथवा नहीं। यदि कोई सूत्र है तो उसका क्या रूप है और उसका किस प्रकार विकास हुआ है।

राम-कथा के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के तीन प्रमुख मत सामने आते हैं। प्रथम सिद्धांत 'लासेन' का है।[1] इस सिद्धांत के अनुसार रामायण की कथा एक रूपक है जिसमें आर्यों की दक्षिण-विजय के सफल प्रयत्न का प्रतिबिंब है। दूसरा सिद्धांत वेबर का है। इनके अनुसार रामायण की कथा आर्य-सभ्यता के दक्षिण-भारत और लंका में विस्तार का रूपक है। ये सिद्धांत रूपक पर बल देते हैं। इनके आधार से राम-कथा के सभी तत्त्वों की संतोषजनक व्याख्या नहीं हो पाती। उक्त सिद्धांत अयोध्या के राजवंश से संबंधित कथा-भाग के लिये कोई उत्तर नहीं देते। दूसरे कथा-भाग की व्याख्या मात्र ही करते हैं। दूसरे कथा-भाग में भी जो दिव्य तथा ईश्वरीय तत्त्व आ गए हैं उनकी भी विशद व्याख्या नहीं हो पाती।

तीसरा सिद्धांत वैज्ञानिक अधिक है। इस सिद्धांत से अंतर्राष्ट्रीय कथा-गाथाओं की व्याख्या की गई है। इस मत के अनुसार प्रत्येक गाथा भाषा का विकार है। इस विकृत रूप में रूपकवत् अथवा विशेषणवत् जो शब्द होते हैं वे अपनी स्वतंत्र सत्ता में स्थित होने लगते हैं। यह भूल जाया जाता है कि ये कवि के दिए नाम हैं, जिन्होंने शनैः शनैः देवत्व प्राप्त किया है।[2] अतः इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक गाथा प्राकृतिक घटना के रूपक पर बनी है। पर पहले स्थूल मूर्त गाथा का निर्माण हुआ, तत्पश्चात् उसे भाषा-प्रतीकों में अभिव्यक्ति मिली।[3] इस सिद्धांत को

१—ए० मैकडानल, 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिट्रेचर', पृ० १११

२—मैक्समूलर, लेक्चर्स ऑन सायंस ऑव लैंग्वेज', पृ० ११

३—टेलर, 'प्रिमिटिव कल्चर', जि० १ पृ० २६९

आधार मानकर राम-कथा की व्याख्या अनेक विद्वानों ने की है।[४] इस व्याख्या के अनुसार 'सीता' ऋग्वेदीय इंद्र की पत्नी हो जाती है, 'इंद्र' 'राम' में परिवर्तित होता है। 'रावण' 'वृत्र' है (उसका बेटा 'इंद्रजीत' कहा भी है। 'इंद्रशत्रु' ऋग्वेद में इंद्र का विशेषण भी है)। सीता का हरण गायों की चोरी से साम्य रखता है जिन्हें इंद्र ढूँढ़कर, राक्षसों से संघर्ष करके लाता है। हनुमान मारुति का प्रतीक है, जिसने गायों की खोज में इंद्र का साथ दिया था। 'सरमा' इंद्र का संदेश-वाहक था, जो 'रसा' के समुद्रों को पार करके गायों की खोज करता है; यही वह राक्षसी है जो सीता को धैर्य देती है। इस प्रकार से याकोबी ने राम-कथा की रूपकात्मक व्याख्या की है। इसी व्याख्या को आधार मानकर वैदिक साहित्य में राम-कथा के बीज की खोज आरंभ होती है।

ऋग्वेद-काल वह युग है जब मानव की सभ्यता का प्रथम अध्याय लिखा जा रहा था। उस समय ऋग्वेदकालीन आर्य ने पहली बार अपनी आकृति के अनुरूप देवताओं की अभिसृष्टि आरंभ की। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है—'मानव-मस्तिष्क में जो देव-सर्जन का कार्य आरंभ हुआ, उसका जैसा स्पष्ट और भव्य रूप ऋग्वेद में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं।'[५] उस युग के मंत्रद्रष्टा ने अपनी नित्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उन नवनिर्मित देवताओं का स्तवन किया। इन स्तवनों में दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि प्रमुख है। आर्य जाति के सम्मुख भारत की विस्तृत, समतल, उर्वरा भूमि थी, पयस्विनी नदियों से भूमि अभिसिंचित थी। उसके कृषि-जीवन में स्पृहणीयता भर गई। भूमि के गर्भ से राशि-राशि धान्य उत्पन्न होता था। भूमि में मातृत्व की स्थापना इसी सूत्र के आधार से हुई होगी। भूमि में मातृत्व के आरोप का प्रौढ़ तथा विकसित रूप अथर्ववेद में प्राप्त होता है। ऋषि गा उठता है—

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'[६]

किंतु अथर्ववेदीय 'पृथिवी-सूक्त' से पूर्व ही, आरंभिक वैदिक साहित्य में ही, भूमि को देवत्व प्राप्त हो गया था। प्रत्येक नदी, जलाशय, पर्वत को उसने देवत्व प्रदान किया। किंतु आर्यों का सीधा संबंध कृषि-भूमि से था। उसी को उन्होंने अपने

४—याकोबी, 'डास रामायन'।

५—'इंडियन फिलासफी', खंड १, पृ० ७१

६—अथर्ववेद, १२।१।१२

हल से चीरा था। वहीं से उन्हें राशि-राशि शस्य प्राप्त हुआ था। पृथ्वी के प्रति उस आर्य जाति की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हुए अनेक स्तवन मिलते हैं। पृथ्वी का स्तवन दो रूपों में बहुधा मिलता है—एक तो स्वतंत्र रूप से समस्त भूमि का स्तवन; दूसरा, कुछ अन्य देवताओं—क्षेत्र[७] और सीता[८]—के नाम से है। यहाँ 'सीता' शब्द विचारणीय है।

'सीता' वस्तुतः हल चलाए जाने से उत्पन्न 'कूँड़' या चिराव को कहते हैं, जिसमें बीज बोया जाता है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, मैक्समूलर ने धर्म-गाथा का विकास शब्द-विकार से माना है। उसके मतानुसार आदि मानव ने प्रकृति के दिव्य व्यापारों को देखकर उन्हें किसी शब्द का अर्थ माना, अथवा उस व्यापार को शब्द में अभिव्यक्ति दी। समय पाकर शब्दों में अर्थ-परिवर्तन हुआ। फलतः प्रकृति-व्यापारवाची शब्द दिव्यता अथवा देवत्व के द्योतक हो गए। पहले शब्द रूपकालंकार के रूप में प्रयुक्त हुए। आगे चलकर रूपक का भाव लुप्त हो गया। इसी प्रकार 'सीता' शब्द का विकास हुआ। पहले 'सीता' मात्र एक कृषि-प्रक्रिया का परिणाम थी। अब 'सीता' पर व्यक्तित्व का आरोप किया गया, वह देवी बन गई। इस रूप में आने पर 'सीता' को इंद्र-पत्नी के रूप में देखना स्वाभाविक था।[९] इंद्र निश्चित रूप से वृष्टि और विद्युत् का देव है। इंद्र द्वारा प्रेरित जल-वृष्टि से 'सीता' को सिंचित होते हुए उस ऋषि-कवि ने देखा। अभिसिंचित सीता को बीज धारण करते हुए भी उसने देखा। बीज-काल के पश्चात् उसने कृतज्ञ नेत्रों से देखा कि उस 'सीता' से शस्य की उत्पत्ति हो रही है। अतः ऋग्वेद में 'इंद्र' को 'उर्वरापति' कहा गया।[१०] इस समस्त व्यापार ने ऋषि के कल्पनाशील कवि-मस्तिष्क में 'रूपक' का भाव उत्पन्न किया। फलतः दांपत्य के भाव का आरोप इंद्र और सीता में हुआ। इस प्रकार सीता-कथा का वैदिक विकास आरंभ होता है। वृत्र एक राक्षस है जो बादलों में मेघ के जल को बंद रखनेवाला है। वर्षा-जल के वृत्र द्वारा अवरुद्ध हो जाने पर 'सीता' (कूँड़) का क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक है। उसकी उर्वरा शक्ति तथा बीज धारण करने की शक्ति अपहृत हो जाती है। तब इंद्र

७—ऋग्वेद, ४।५७

८—वही ४।५७।६

९—पारस्कर गृह्यसूत्र, २।१७।९

१०—ऋग्वेद, ८।२१।३

अपनी 'पत्नी' (सीता) की शक्ति को अपहरण करनेवाले वृत्र को मारता है। अग्नि वृत्र-विनाश में उसका सहायक होता है।[११] इस 'रूपक' का साहित्यिक क्षेत्र में पर्याप्त प्रचार हो गया था। इसका प्रमाण यह है कि कालिदास ने अपने 'कुमारसंभव' में इस 'रूपक' को अलंकार रूप से ग्रहण किया है (यहाँ भी 'सीता' का अर्थ 'कूड़' ही है)—

सखीभिरश्रोत्तरमीक्षितामिमां
वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम्।[१२]

पार्वती जी अपने प्रियतम शिव जी से वियुक्त होकर उसी प्रकार खिन्न हैं जिस प्रकार इंद्र द्वारा वर्षा के अभाव में 'सीता' क्षुब्ध हो जाती है। इस कहानी का रूप तैत्तिरीय संहिता में और अधिक स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में 'सीता' के व्यक्तित्व की रूप-रेखा और निश्चित रूप से उभर आती है। वहाँ देवी रूप में 'सीता' का आह्वान किया गया है। इस स्थान पर विश्वेदेवा को उनका पति बताया गया है।[१३] उक्त वर्णन में मरुत् का भी संबंध सीता से बताया गया है। इंद्र ने मरुत् की सहायता से ही वृत्र को मारा था। मरुत् ने युद्ध भी किया था।[१४] इसलिये मरुत् का उल्लेख 'सीता' के साथ हुआ है। इसी मरुत् के संबंध से हनुमान की कल्पना की जा सकती है। हनुमान को रामायणकार ने मरुत् का पुत्र कहा है। इंद्र और सीता को साथ-साथ भेंट देने की बात 'पारस्पर गृह्यसूत्र' में मिलती है।[१५] इस प्रकार सीता, इंद्र, मरुत्, अग्नि और वृत्र आदि वैदिक पात्रों द्वारा एक कहानी खड़ी होती है। इसी कहानी को रामकथा के उत्तरार्द्ध (सीताहरण से रावण-वध तक) का मूल कुछ विद्वानों ने माना है।

'सीता-कथा' के इस वैदिक रूप की पुष्टि मे आदिकवि द्वारा दी हुई सीता की उत्पत्ति-कथा ली जा सकती है। वहाँ यह कथा आई है कि मेनका को जनक ने आकाश में देखा। उसे देखकर जनक के मन में कामना हुई कि मेनका से कोई

११—वही ५।६।११

१२—कुमारसंभव, पंचम सर्ग।

१३—अथर्ववेद, १७।४-६

१४—ऋक्०, ६।६६।११

१५—'पारस्परगृह्य सूत्र,' २।१७

संतान उत्पन्न हो। आकाशवाणी हुई—'ऐसा ही होगा। खेत के कूँड़ में जनक को सीता मिलती है। वह जनक की मानस-पुत्री घोषित की जाती है। इस प्रकार वाल्मीकीय सीता का जन्म भी पृथ्वी से ही होता है।[१६]

वैदिक साहित्य में राम-कथा का बीज यही 'सीता' शब्द के 'रूपक' रूप में विकसित होने से बननेवाली कथा कही जा सकती है। इसी रूपक के साथ कुछ ऐतिहासिक तत्त्व आकर मिल गए, जिससे यह गाथा शुद्ध प्राकृतिक गाथा ही नहीं रह गई। वस्तुतः आगे के वैदिक साहित्य में विष्णु की महत्ता इंद्र से बढ़ गई। विष्णु के इंद्र-पद पर प्रतिष्ठित होते ही विष्णु और सीता का संबंध संपन्न हुआ और फिर वह स्थान विष्णु के अवतार 'राम' ने ले लिया होगा। इस वैदिक कथा के आसपास फिर अन्य वैदिक देवगण सहायक रूप में इकट्ठे होते हैं। इसका निर्देश आदिकवि ने इस प्रकार किया है—'अवतरित होने से पूर्व विष्णु ने देवताओं से अपने सहायक रूप में जन्म लेने के लिये कहा। इसपर सभी देवता किसी न किसी रूप में अवतरित हुए और राम को रावण-वध में सहायता दी।[१७] आगे नामावली भी गिनाई गई है—सुग्रीव सूर्य का, तार बृहस्पति का, नल विश्वकर्मा का, नील अग्नि का, द्विविद और मयंद अश्विनों के, सुषेण वरुण का, शरभ पर्जन्य का तथा हनुमान वायु का अवतार था।[१८] उक्त सभी देवता प्रसिद्ध वैदिक देवता ही हैं। इन सभी देवताओं ने व्यक्त-अव्यक्त रूप में इंद्र-वृत्र-कथा में भाग लिया था। इस प्रकार 'राम'के प्रायः सभी प्रमुख सहायकों का मूल हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध हो जाता है। इन सभी देवताओं को मिलाकर वेदों ने जो इंद्र-वृत्र-कथा खड़ी की उसी की प्रतिकृति आगे प्रचलित होनेवाली कथाएँ कही जा सकती है। आगे के युगों में अनेक लोक-तत्त्व भी आकर राम-कथा के वैदिक तत्त्वों में मिल गए। इस प्रकार लोक-वेद-समन्वित रामकथा अमर हो गई। ब्रह्मा के रूप में आदिकवि के ब्रह्म ने इस अमरता का आभास पहले ही पा लिया था और घोषणा की थी—

> यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
> तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति॥

१६—वाल्मीकि रामायण, बंगाल, ३।४।१०; निर्णयसागर, १।६६।१४

१७—ग्रिफिथ रामायण, १।८६; निर्णय० १।१७

१८—वही, १।६३; निर्णय० १।१७

धार से प्राप्त एक शिलालेख

[श्री वि० श्री० वाकणकर]

धार अथवा धारा-नगरी की गणना मालव के अत्यंत प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगरों में की जाती है। टालेमी ने अपने यात्रा-विवरण में जिस 'भोरो गिरी' का उल्लेख किया है वह संभवतः 'धारागिरी' अथवा 'धारा' ही है। महापराक्रमी परमार राजाओं के राज्यकाल में इस नगरी का सुवर्णकाल रहा। वाक्पतिराज मुंज तथा राजा भोज (प्रथम) के काल में यहाँ अनेक साहित्यिक, चित्रकार, शिल्पी तथा अन्य प्रकार के कलाकार और गुणीजन रहते थे। यह धारा अपने चौरासी चतुष्पथों से शोभायमान होती थी (पारिजात-मंजरी)। परमारों का धारा से इतना अनन्य संबंध हो गया था कि एतद्विषयक कुछ लोकोक्तियां सर्वत्र प्रचलित हो गई थीं। यथा—

> जहाँ पुआँर तहँ धार है, और धार तहाँ पुआँर।
> धारा विण पुआँर नही, नहि पुआँर विण धार॥
> पृथिवी पुआँरा तणी, अनी पृथिवी तणा पुआँर।
> एक आबू गड बेसणो, दूजी उजेणी धार॥

राजा भोज के समय में प्रतिकालिदास कवि पद्मगुप्त धार में ही रहते थे। मदन कवि द्वारा विरचित 'पारिजात-मंजरी' तथा पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित' धार और परमारों के वैभव का अतीव सुंदर चित्रण करते हैं। स्वयं भोजराज ने अनेक संस्कृत ग्रंथों की रचना की, जिनमें से 'कोदण्डकाव्यम' तथा 'समराङ्गण-सूत्रधार' सर्वप्रसिद्ध हैं।

धार के ख्यातनामा श्री काशिनाथ कृष्ण लेले के प्रयत्न से धार का प्राचीन इतिहास प्रकाश में आया। उन्होंने धार-स्थित भोजशाला अथवा सरस्वती-मंदिर से अनेक शिलालेख प्राप्त किए। कोदंडकाव्य तथा पारिजातमंजरी के अत्यंत विशाल तथा सुलिखित शिलालेख उन्हीं के परिश्रम से प्राप्त हुए। दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में प्रचलित नागरी लिपि में वे उत्कीर्ण किए हुए हैं।

लेखक को संवत् २००६ के वसंत में पुरातत्त्व-संग्रहालय के चपरासी छोटेलाल द्वारा सूचना मिली कि एक लिखित शिला भालीबाड़ा (धार) के खेतों में पड़ी है। एक दिन प्रातः जाकर उसे देखा तथा श्री रामचंद्रदेव की सहायता से वह शिला धार-संग्रहालय में लाई गई। धार के प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० श्र० वा० वाकणकर जो उस समय वहाँ इतिहास विभाग के प्रमुख थे, उसे प्राप्त कर हर्षित हुए। उन्हीं की सहायता से उसे पढ़ा भी गया।

लेख स्लेट पत्थर पर उत्कीर्ण है। इसकी लिपि धार के अन्य लेखों के समान ही ग्यारहवीं शताब्दी की प्रतीत होती है तथा पंक्तियाँ पद्यबद्ध हैं। कुल सतरह पंक्तियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। लेख त्रिकोणाकृत टूटी शिला पर होने के कारण उसकी ऊपर की पंक्तियाँ पर्याप्त लंबी हैं तथा अंतिम पंक्ति केवल चार अक्षरों की रह गई है। श्लोकों की संख्या इस प्रकार है—

॥१२॥, ॥२३॥, ॥३१॥, ॥८३॥, ॥४॥

इससे प्रतीत होता है कि किसी काव्य के दो खंड इसमें लिखे हैं प्रथम खंड के १२, २३, ३१, ८३ तथा द्वितीय के ४ संख्यक श्लोक के अंश इसमें आ गए हैं। उत्कीर्ण करने की पद्धति अत्यंत सुंदर है।

लेख की भाषा प्राकृत तथा कोदंडकाव्य से मिलती-जुलती है। इसकी पंक्तियाँ दोनों ओर टूटी होने के कारण अर्थबोध नहीं होता। सामने के पृष्ठ पर इसकी प्रतिकृति दी जाती है। मूल लेख की लंबाई १५ इंच तथा चौड़ाई १२ इंच के लगभग है। लेख इस प्रकार पढ़ा गया है*—

पंक्ति संख्या	लेख
१	ल्लवि उंदेइने अवसाण[1]। मेल्लवई अम्मणातंम...
२	णरायाण ॥१२॥ हिअएवसि उणमए[2] एत्वले यंने अ...
३	इमुद्ध आम्हे[3] कज्जस्स जस्मवादित्ता[4] ते नु (?) हसिद्धेए[5]...
४	उण अद्धयं दंभडिज्जं तो न सोहेई ॥२३॥ माणो...

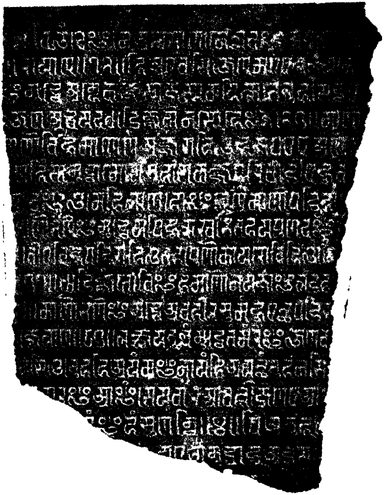
* कुछ अक्षर अन्य प्रकार से पढ़े गए, नीचे टिप्पणी में उनका संभव पाठ दे दिया गया है। —सं०

१—अवेसाण। २—उण। ३—अम्हे। ४—दित्ता। ५—द्धंए।

५ णो विंदुमाणेयं अज्जं गहि उदुजंपए ए अं...उ...
६ णेहिं कमुद्दा[6] मोण सुहाणं कज्ज परि (?)...डिए दुष...
७ ...दईऊ। महिलाणं होई हेर्षें (?) माणो पडिहा...
८ माणो तपिई मुद्दे मंपिदुरा खसे[7] (?) तहय पुण दई
९ तीए विदु पडिगहि उतहा पूणो काय रोविहिउ। ...
१० ॥३१॥ भडिज्जं तो विहहंमाणो नय जाई लडह...
११ ...माणोतणे इमुद्दे अवहिर[8] सुमंदु एत्छ पड़िग...
१२ जेत्ताण[9] ॥८३॥ लच्चय तुल्लं मुद्देतं मंइई[10] उणत...
१३ ...हसिउ। तुहहि अयं मई नायं हि अयत्छंतु हनसि...
१४ ...रई आइं। मयवारं आवत्तीजेणं ए आ...
१५ .... इहं सुणम्वि ॥ ४ ॥ पिह तुहा...
१६ ....ए अंमुद्दा दुअ०भेसई[11]...
१७ .... ? ? ? ...

६—समुद्दा। ७—हु शंख सि। ८—हीर। ९—जुत्ताण। १०—मं रई।
११—असइ।

धार से प्राप्त एक शिलालेख



विमर्श

वाल्मीकि-आश्रम

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के तिरपनवें वर्ष के तृतीय-चतुर्थ अंक में एक लेख वाल्मीकि-आश्रम के संबंध में श्री किशोरीलाल गुप्त लिखित प्रकाशित हुआ है। उसमें अ० ति० रेलवे के भीटी स्टेशन से दक्षिण बनकट स्थान को 'सीतामढ़ी बनकट' बतलाकर उसे गंगा के तट पर स्थित बतलाया है और कहा गया है कि सीता जी ने अयोध्या से निष्कासित होने पर अपने वनवास के दिन यहीं बिताए थे तथा यहीं उनके लव और कुश पुत्रों की उत्पत्ति हुई थी। इस संबंध में वाल्मीकि रामायण के आधार पर ही विचार होना आवश्यक है, क्योंकि रामचंद्र और सीता के संबंध में ऐतिहासिक तथ्य वाल्मीकि रामायण से ही प्राप्त हो सकते हैं। किसी इधर के काव्य-ग्रंथ, तुलसीकृत रामायण अथवा 'साकेत' आदि को आधारभूत मानना अधिक युक्तियुक्त नहीं होगा। एक सीतामढ़ी स्थान मुजफ्फरपुर जिले में नैपाल राज्य की सीमा पर स्थित है। वहाँ सीता जी की जन्मभूमि कही जाती है। इसी प्रकार भीटी स्टेशन के पास सीतामढ़ी की ऐतिहासिकता किसी और कारण से हो सकती है। गंगा के उत्तरी तट पर सीता जी का निष्कासित अवस्था वाला वनवास-स्थल तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि लक्ष्मण जी ने गंगा पार करने पर उन्हें निष्कासन की आज्ञा सुनाई थी और उस पार के स्थान पर ही महर्षि वाल्मीकि उन्हें अपने आश्रम ले गए थे। हम आगे चलकर इस संबंध में विशेष चर्चा करेंगे। हाँ, वाल्मीकि-आश्रम को लेकर इस स्थान का समर्थन हो सकता है; सो भी गंगा के उत्तरी तट को लेकर नहीं, दक्षिणी तट के विषय में ही इसकी उचित चर्चा हो सकती है। इलाहाबाद जिले के सिरसा नामक स्थान से पाँच-छः कोस पूर्व बनकट स्थान है और वहाँ वाल्मीकि जी का आश्रम होना कहा जाता है। वाल्मीकि रामायण में वाल्मीकि जी के आश्रम को लेकर हमें तीन स्थानों का उल्लेख मिलता है। उन्हें हम क्रमशः बतलाने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम आश्रम—पहले आश्रम का वर्णन वाल्मीकि रामायण के बालकांड में है। रामचंद्र जी राज्य कर रहे थे। एक बार नारद मुनि वाल्मीकि के आश्रम में

आए। दोनों की बातचीत में यह प्रसंग उठा कि इस समय इस संसार में कौन ऐसा महापुरुष है जो एक साथ ही गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रत, चरित्रवान्, प्राणिमात्र का हितैषी, विद्वान्, समर्थ, अति दर्शनीय, धैर्यवान्, क्रोध को जीतनेवाला, तेजस्वी, ईर्ष्यारहित तथा क्रोधयुक्त होने पर देवताओं को भी भयभीत करनेवाला हो? वाल्मीकि के इस प्रश्न के उत्तर में नारद ने तीनों लोकों की जानकारी के आधार पर कहा कि आपने जिन गुणों का उल्लेख किया है उनका किसी एक में मिलना अति दुर्लभ है; परंतु इक्ष्वाकु-वंश-प्रभव राम में उन गुणों की विद्यमानता है। इसी प्रसंग में नारद ने राम के शरीर और गुणों का उल्लेख करते हुए उनके जीवन-चरित का ही संक्षेप में वर्णन कर दिया है। यह वर्णन पूरे प्रथम सर्ग में हुआ है और इसे मूल रामायण कहते हैं।

इस कथा को सुनकर महर्षि वाल्मीकि का रामचंद्र की ओर आकर्षण बढ़ा और रामायण अथवा रावण-वध काव्य की रचना का विचार उनके हृदय में उत्पन्न हुआ। नारद तो वाल्मीकि और उनके शिष्यों से पूजा प्राप्त कर आकाश-मार्ग से गमन कर गए, इधर वाल्मीकि अपने शिष्य भरद्वाज को साथ ले दो घड़ी में उस स्थान पर पहुँचे जहाँ तमसा नदी है। तमसा के निर्मल और कीचड़-रहित जल को देख शिष्य से कहा कि कलश को रख हमें वल्कल वस्त्र दो, हम यहाँ स्नान करेंगे। महर्षि वाल्मीकि वल्कल वस्त्र ले नदी के किनारे टहलने लगे। इसी बीच एक क्रौंच पक्षी के जोड़े को मिथुनावस्था में एक व्याध ने अपने तीर का निशाना बनाया। नर पक्षी रक्त से लथपथ भूमि पर लोटने लगा और मादा करुण विलाप करने लगी। इस दृश्य से ऋषि के कोमल हृदय को चोट लगी और उन्होंने उसे डाँटकर कहा कि तू अब इस वन में कभी न आना। तूने कामपीड़ित जोड़े को दुख पहुँचाया है अतएव तुझे भी बहुत दिनों तक शांति न मिले। ये क्रोधयुक्त वाक्य उनके मुख से निम्न रूप में निकले—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ (वा० रा० १।२।१५)

इन वाक्यों के व्यक्त होने पर महर्षि उसके अर्थ और उसकी रचना का विचार करने लगे। उन्होंने अपने शिष्य से कहा कि अरे इसमें तो चार पाद हैं और प्रत्येक पाद में समान अक्षर हैं। यह वीणा पर भी गाया जा सकता है। यह यशोरूप हो मेरा यश बढ़ाए। उन्होंने और उनके शिष्य ने उसे कंठ कर लिया और अपने आश्रम में लौट आए (१।२।१६-२०)। उसी समय वाल्मीकि-आश्रम में

ब्रह्मा जी आए और उनसे भी इस संबंध में परामर्श हुआ। उस चार-पाद वाले वृत्त का नाम अनुष्टुप् छंद हुआ और इसी छंद में ब्रह्मा जी ने रामचरित-वर्णन का परामर्श दे उन्हें नारद-कथित रामचरित के गुप्त प्रकट सभी वृत्तांत जानने की शक्ति प्रदान की (१।२।२३-३५)।

इस प्रकार वाल्मीकि के जिस आश्रम में रामायण-कथा के आरंभ का प्रादुर्भाव होता है वह स्थान तमसा नदी के तट के कहीं समीप ही दो घड़ी में पहुँचने योग्य होना चाहिए। तमसा नाम की दो नदियों का उल्लेख मिलता है। एक तो उत्तर-तमसा जिसके तीर, वनवास के पश्चात् शीघ्र ही रामचंद्र जी का रथ पहुँचा था—'तमसा तीर तुरत रथ आवा'। यह नदी अवध से बहती हुई आजमगढ़ होकर आगे सरयू में मिल जाती है। दूसरी दक्षिण-तमसा रीवाँ राज्य और इलाहाबाद जिले की सीमा से बहती हुई इलाहाबाद जिले के सिरसा नामक स्थान से पश्चिम गंगा जी में मिलती है। इसे टौंस या तमसा कहते हैं। वाल्मीकि-आश्रम कहीं समीप ही इसी तमसा के किनारे होना चाहिए। सिरसा से पश्चिम थोड़ी ही दूर पर इस समय तमसा और गंगा का संगम है। यहाँ से पाँच छः कोस पूर्व बनकट स्थान है। संभव है यहाँ वाल्मीकि का आश्रम रहा हो और यहाँ से वे अपने शिष्य सहित दो घड़ी में पहुँच गए हों। श्री किशोरीलाल जी का अभिप्रेत वाल्मीकि-आश्रम यही हो सकता है। जो हो, इस आश्रम का संबंध सीता जी के निवास से न हो तो भी रामायणी कथा के आरंभ समय से हो सकता है। यह बनकट स्थान भीटी से दक्षिण गंगा के दक्षिण पार है और इसी पार ऊंचडीह नाम का एक स्थान ई० आई० आर० का स्टेशन है। गोसाईं जी का वर्णित दिगपुर यह डीह भी हो सकता है। यहाँ खोदाई करने पर पुराने नगर का पता भी लगा है। गंगा के उस पार भीटी या भीटा अर्थात् उच्च स्थान और इस पार ऊंचडीह अर्थात् पुराना ऊँचा स्थान सार्थक है, किंतु यह स्थान भी बनकट से छः कोस दूर है। जो हो, बनकट के पास वाल्मीकि जी का एक आश्रम होना सिद्ध हो सकता है।

सीता को वनवास देते समय रामचंद्र ने लक्ष्मण से वाल्मीकि के आश्रम का जो उल्लेख किया था उसमें भी तमसा नदी का नाम आया है—

> गंगायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥
> आश्रमो दिव्य संकाशस्तमसातीरमाश्रितः ।
> तत्रैनां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥ (वा० ७।४५।१७,१८)

और यही कारण है जो बनकट में सीता जी के रहने की बात कही जाती है। इस समय बनकट से पूर्व नाले के उस पार थोड़ी दूर पर सीतामढ़ी स्थान है। परंतु यह स्थान तमसा किनारे नहीं, तमसा से छः सात कोस दूर पूर्व की ओर है। हो सकता है नदी की धारा में इतने दिनों के बाद कुछ परिवर्तन हो गया हो। वहाँ के लोगों में कोई ऐसी जनश्रुति तो प्रचलित नहीं है, किंतु धारा के टेढ़ेमेढ़ेपन से अनुमान लगाया जा सकता है। पर कुछ ऐसे भौगोलिक कारण है जिनसे यहाँ सीता के त्याग की बात संदिग्ध हो जाती है। इसका विचार हम वाल्मीकि जी के तीसरे आश्रम की चर्चा के समय करेंगे।

द्वितीय आश्रम—ऐसा अनुमान होता है कि या तो वाल्मीकि के कई आश्रम रहे हों या समयानुसार वे आश्रमों का परिवर्तन करते रहे हों। बात जो हो, किंतु उनके दूसरे, और शायद उपर्युक्त तमसा के पासवाले आश्रम के पहले के, एक और आश्रम का पता हमें वाल्मीकि रामायण से लगता है जो कहीं चित्रकूट आश्रम के आसपास था। रामचंद्र जी को वनवास हो चुका है और वे लक्ष्मण और सीता के साथ शृंगवेरपुर में गंगा पारकर प्रयाग में भरद्वाज-आश्रम पहुँचे हैं। महर्षि भरद्वाज ने उनका आदर-सत्कार कर उनसे वनवास की अवधि तक अपने पास प्रयाग में ही ठहरने का आग्रह किया; परंतु राम ने अयोध्या के समीप होने और अवधवासियों के यहाँ सहज ही आने-जाने रहने की शंका के कारण वहाँ रहना उचित नहीं समझा और अन्य कोई समुचित स्थान बतलाने की प्रार्थना की। इसके उत्तर में महर्षि ने कहा—

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि। महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः॥
गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः। चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः॥
(२।५४।२८,२९)

अर्थात् यहाँ से दस कोस की दूरी पर ऋषियों से सेवित एक पर्वत (का आरंभ होता) है[1] जहाँ लंगूर, बंदर, रीछ आदि घूमा करते हैं। अनेक वन्य जीवों

१—इस दस कोस की दूरी और भरद्वाज-आश्रम और प्रयाग संगम तथा चित्रकूट के बीच की वर्तमान दूरी को लेकर आजकल कुछ विद्वान् संगम की वर्तमान स्थिति को संदिग्ध मानते हैं। प्रथम तो आजकल के कोस से उस समय के कोस को मैं बड़ा ही मानता हूँ। दूसरे चित्रकूट की १० कोस की दूरी से मतलब उस स्थान से नहीं है जहाँ रामचंद्रजी ने कामदगिरि पर निवास किया था, बल्कि वहाँ अभिप्राय है चित्रकूट पर्वत के शिखरों के आरंभ-स्थल की दूरी से। इस समय भी यमुना के उस पार प्रयाग से बारह-पंद्रह मीलों के बाद चित्रकूट पर्वत के शिखरों का आरंभ हो जाता है।

से युक्त गंधमादन के समान सुंदर चित्रकूट पर्वत है, वहाँ आप निवास करें। यमुना के उस पार प्रयाग से दस-बारह कोस पर आज भी एक घने जंगल के बीच एक पहाड़ी है जिसे 'ऋषिपन' कहते हैं। यह ऋषिपन स्थान वर्तमान वाल्मीकि पहाड़ी से कुछ इधर ही है और यहीं से ऋषि-आश्रम आरंभ होता है। वहाँ इस समय भी जंगली जानवरों की अधिकता है और प्रायः रात में वहाँ लोग नहीं ठहरते।

प्रयाग-माहात्म्य में दो वटों का वर्णन मिलता है—एक श्वेतातपत्र और दूसरा नीलातपत्र। श्वेतातपत्र वट तो प्रयाग में ही था जहाँ आजकल अक्षयवट बतलाते हैं; और दूसरा नीलातपत्र यमुना के उस पार, जहाँ आजकल अमिलियन का मेला लगता है उससे इधर ही कहीं था। रामचंद्र जी ने यमुना को वर्तमान तिल्हापुर से इधर ही कहीं कर्मा के आसपास पार किया था और उस पार उन्हें वह श्यामवट मिला था। उसके आगे ही ऋषिपन स्थान है। किंतु रामचंद्र जी वट से भी आगे यमुना के किनारे-किनारे चलते गए। आगे नदी के किनारे समान भूमि पर उन्होंने पहली रात बिताई। यहीं से 'चित्रकूटमिमंपश्य' कहकर रामचंद्र जी ने लक्ष्मण से चित्रकूट का संकेत किया। दूसरे दिन यमुना-स्नान कर वन और पर्वत की शोभा देखते हुए चित्रकूट पर्वत के उस भाग में पहुँचे जहाँ वाल्मीकि मुनि का आश्रम था। इस आश्रमवाले भाग को वाल्मीकि रामायण में चित्रकूट ही कहा गया है। वह आश्रम का भाग बहुत मनोहर था। वहाँ अनेक प्रकार के पक्षी कलरव करते थे। कंद-मूल-फल की बहुतायत थी; सुंदर जल के कुंड थे। वृक्ष और लताएँ फल-फूल-मूलों से परिपूर्ण थीं। उसकी रमणीयता से प्रसन्न हो रामचंद्र जी कहने लगे कि यहाँ ऋषि-मुनियों के निवास के समीप हमारा समय अच्छी तरह कट जायगा।

इस प्रकार निश्चय कर श्री रामचंद्र लक्ष्मण और सीता सहित हाथ जोड़े हुए वाल्मीकि के आश्रम में पहुचे और उन्हें अभिवादन किया—

> इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृतांजलिः।
> अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्॥ (२।५६।१७)

धर्मात्मा महर्षि वाल्मीकि ने इन्हें देखकर प्रसन्नता प्रकट की और इनका पूजन कर आसन दे स्वागत किया। इसके बाद रामचंद्र जी ने महर्षियों को अपना तथा लक्ष्मण और सीता का परिचय देकर वनवासादि का कारण बताया। यहाँ महर्षि से

विशेष बातचीत का उल्लेख नहीं हैं। यों तो किसी प्रतिष्ठित अतिथि के आने पर प्रसन्नता सभी को होती है, परंतु इस प्रसन्नता का एक और भी कारण हो सकता है। इसका उद्घाटन उत्तरकांड में होता है। वहाँ सीता जी का त्याग करते समय लक्ष्मण ने सीता से कहा है कि मुनिपुंगव वाल्मीकि जी मेरे पिता महाराज दशरथ के परम सखा हैं। वहाँ उनकी सेवा करती हुई तुम सुख से रहना—

तदेतज्जाह्नवीतीरे ब्रह्मर्षीणां तपोवनम् ॥
पुण्यञ्च रमणीयञ्च मा विषादं कृथाः शुभे ।
राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुंगवः ॥
सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः ।
पादच्छायामुपागम्य सुखमस्य महात्मनः ।
उपवासपरैकाग्रा वस त्वं जनकात्मजे ॥ (७।४७।१५-१७)

अतएव सखा-पुत्रों को देख महर्षि का प्रसन्न होना स्वाभाविक था।[२]

अस्तु, राम ने वहीं पर कुटी बनाने के लिये लक्ष्मण को आज्ञा दी और कुटी तैयार होने पर वास्तुपूजा कर सबने उसमें प्रवेश किया। यहाँ पर एक नदी में स्नान करने का भी उल्लेख है और आगे चलकर उसका नाम माल्यवती कहा गया है—

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं नदीञ्च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम् ।
ननन्द रामो मृगपक्षिजुष्टां जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ (२।५६।३५)

यह विचारणीय है कि यहाँ चित्रकूट की मंदाकिनी या पयस्विनी नदी की चर्चा नहीं आई। परंतु जहाँ महात्मा भरद्वाज ने भरत को रामचंद्र जी का पता बतलाया है, वहाँ साढ़े तीन योजन की दूरी* (राम से दस कोस की दूरी और इनसे चौदह कोस की दूरी) और पर्वत से उत्तर की ओर बहनेवाली मंदा-

२—आश्चर्य है कि राम के मिलने पर न तो राम के द्वारा और न महर्षि के द्वारा इसका रहस्योद्घाटन हुआ; और न वाल्मीकि रामायण में राम और वाल्मीकि के किसी विशेष वार्तालाप का ही वर्णन आया। हाँ, तुलसीकृत रामायण में इसकी कसर पूरी की गई है।

* अर्धतृतीयेषु योजनेषु (२।९२।१०) का अर्थ राम-तिलक के अनुसार 'साढ़े तीन योजन पर' नहीं, प्रत्युत 'ढाई योजन पर' (सार्धयोजनद्वयेऽतीते इत्यर्थः) अर्थात् 'दस कोस पर' ही है। —सं०

किनी नदी का भी उल्लेख किया है। भरत जी जब चित्रकूट पहुँचे हैं, तब भी मंदाकिनी का उल्लेख हुआ है। भरत के आगमन के कुछ समय पहले रामचंद्र जी ने चित्रकूट के दर्शनीय दृश्यों को दिखलाते हुए भी मंदाकिनी का नाम लिया है, और उसकी ओर संकेत कर देखने के लिये कहा है। संभव यह प्रतीत होता है कि रामचंद्र जी ने वाल्मीकि-आश्रम के पास कुटी बनाई (प्रयाग से उस समय के दस कोस पर) और फिर कुछ दिनों के बाद वहाँ से पश्चिम-दक्षिण छः या सात (उस समय के चार कोस) अर्थात् प्रयाग से चौदह कोस पर कामदगिरि में वासार्थ गए। यदि भरत से मिलने के समय राम वाल्मीकि-आश्रम के पास होते तो वे स्वयं अथवा वसिष्ठादि उनसे मिलने अवश्य जाते। राम ने जब पिता की मृत्यु सुनने के बाद उन्हें जलांजलि दी, तब भी माल्यवती नहीं मंदाकिनी का उल्लेख है। भरत जी के महर्षि वाल्मीकि से मिलने का उल्लेख न तो चित्रकूट जाते समय और न लौटते समय हुआ। इससे जान पड़ता है उस समय वाल्मीकि का आश्रम राम-निवास के चित्रकूट से कुछ दूर ही था। प्रयाग से दो दिन में जिस वाल्मीकि-आश्रम में राम पहुँचे थे वह पहाड़ी राजापुर से दक्षिण कुछ पूर्व लिए पाँच-छः कोस पर इस समय भी 'वाल्मीकि पहाड़ी' नाम से प्रसिद्ध है। यात्री लोग वहाँ जाते-आते रहते हैं। वहाँ एक नदी भी है, जिसे इस समय वाल्मीकि नदी कहते हैं। जान पड़ता है, वाल्मीकि रामायण में इसी का नाम माल्यवती लिखा है। इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि का यह दूसरा स्थान चित्रकूट पर्वत श्रेणी में चित्रकूट कामदगिरि से पूर्वोत्तर भाग में पाँच-छः कोस पर और राजापुर से दक्षिण-पूर्व पाँच-छः कोस पर विद्यमान हैं।

तृतीय आश्रम—एक तीसरा वाल्मीकि-आश्रम कानपुर से पश्चिम ब्रह्मावर्त बिठूर के पास गंगा-किनारे कहा जाता है। श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने भी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के तिरपनवें वर्ष के तीसरे-चौथे अंक में इसका वर्णन किया है। पृष्ठ २४० में लिखा है, "वाल्मीकि—इनका आश्रम कानपुर के समीप बिठूर में था। सीता वनवास के समय यहीं रहीं और यहीं लव-कुश का जन्म हुआ। वाल्मीकि द्वारा रामायण-प्रणयन यहीं हुआ बताया जाता है।" हमें भी यह कथन सयुक्तिक जान पड़ता है। यद्यपि सीता का परित्याग करते समय श्री रामचंद्र ने लक्ष्मण से कहा था कि तमसा के तीर वाल्मीकि का आश्रम है, उसी निर्जन वन में सीता को छोड़ आओ, पर सीता का परित्याग करते समय तमसा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसके सिवा कुछ ऐसे प्रमाण मिलतेहैं जिनसे यह असिद्ध होता है

कि सीता का परित्याग वाल्मीकि के तमसातीर वाले आश्रम के पास हुआ था। जान पड़ता है अयोध्या से चलते समय लक्ष्मण को यह पता लग गया होगा कि महर्षि आजकल तमसा-तीर वाले आश्रम में नहीं, बल्कि ब्रह्मावर्त के पास के आश्रम में विराजते हैं। लक्ष्मण सीता को रथ में बैठाकर प्रातःकाल अयोध्या से चले थे। पहली रात उन्होंने गोमती-तीर के आश्रम में बिताई थी। दूसरे दिन सबेरे उन्होंने सुमंत से कहा था कि शीघ्र रथ जोतिए, मैं आज भागीरथी के जल को शिर पर धारण करना चाहता हूँ। इस प्रकार वे दोपहर तक गंगा-किनारे पहुँच गए थे। यदि तमसा-तीर के आश्रम की ओर वे जाते तो सुलतानपुर के पास कहीं गोमती पार होते। यहाँ से तमसा-तीर का आश्रम लगभग ६० मील दूर पड़ता। एक गर्भवती स्त्री को बैठाकर रथ से दोपहर तक वहाँ पहुँचना, संभव नहीं जान पड़ता। यदि लक्ष्मण ने कहीं लखनऊ के पास गोमती को पार किया हो तो बिठूर पहुँचने में उन्हें लगभग ४० मील चलना पड़ा होगा। अतएव यही संभव प्रतीत होता है कि लक्ष्मण ने नाव में बैठाकर सीता को गंगा के उस पार कर परित्याग की आज्ञा सुनाई और फिर गंगा पारकर वहाँ पहुँचे जहाँ उनका रथ लिए सुमंत प्रतीक्षा कर रहे थे। सीता जी को रोती-बिलखती देख ऋषिकुमारों ने महर्षि वाल्मीकि को सूचना दी और वे सांत्वना दे सीता को अपने आश्रम ले गए। आश्रम के पास जहाँ मुनिपत्नियाँ रहती थीं वहाँ ले जाकर ऋषि ने सीता को उन्हें सौंपा और उन्हें सुखपूर्वक रखने की बात समझाकर अपने आश्रम को लौट आए। ऋषिपत्नियों ने सीता के साथ वाल्मीकि जी के पहुँचने पर कहा था कि हे मुनिश्रेष्ठ, आपका स्वागत हो। इस बार हम लोगों को बहुत दिनों बाद आपके दर्शन मिले। हम सब आपको प्रणाम करती हैं। आज्ञा दीजिए, हम क्या करें?

स्वागतं ते मुनिश्रेष्ठ चिरस्यागमनं च ते।
अभिवादयामस्त्वा सर्वा उच्यतां किं च कुर्महे॥

(७।४९।१५)

इससे जान पड़ता है इस आश्रम में ऋषि बहुत अधिक नहीं रहते थे और कुछ दिन पहले ही वहाँ पहुँचे थे। इस वर्णन-प्रसंग में कहीं तमसा का उल्लेख नहीं आया। लौटती बार लक्ष्मण जी ने किसी केशिनी नगरी या केशिनी नदी के किनारे रात बिताई थी। इस केशिनी का पता लगने से इसका रहस्य और भी खुल सकता है। हो सकता है कि सई नदी का नाम केशिनी रहा हो। तब तो उन्होंने

रायबरेली जिले या उन्नाव जिले से प्रयाण किया होगा, और वह मार्ग बिठूर का ही हो सकता है।

एक और घटना का वर्णन वाल्मीकि रामायण में मिलता है। उससे भी यही विदित होता है कि बिठूरवाले आश्रम के पास ही सीता जी ने परित्याग-अवस्था का समय बिताया होगा। सीता-परित्याग के कुछ दिनों बाद मथुरा के पास के च्यवन आदि ऋषियों का एक दल रामचंद्र जी से मिला और मधु राक्षस के पुत्र लवणासुर के अत्याचारों का वर्णन कर उसे मारने की प्रार्थना की। उनकी बात मानकर रामचंद्र जी ने यह कार्य शत्रुघ्न जी को सौंपा और नारायणास्त्र तथा एक अच्छी सेना, चार हजार घोड़े, दो हजार रथ और सौ हाथी, दूकानें, बाजार, नट नर्तक, सामान आदि उन्हें देकर ऋषियों के साथ बिदा किया। उन्हें आदेश था कि ग्रीष्म ऋतु समाप्त होने पर वर्षा के आरंभ में लवणासुर को मारना उचित होगा (७।६४।१०)। शत्रुघ्न जी ने सेना को पड़ाव आदि का आदेश देकर ग्रीष्म के अंत में (वर्षा के पहले) गंगा पार करने की आज्ञा दी (७।६४।११) और वे स्वयं एक महीने बाद अकेले वहाँ से प्रस्थान कर मार्ग में दो रात बिता तीसरे दिन वाल्मीकि आश्रम में जा पहुँचे (७।६५।१-२)। जिस रात शत्रुघ्न जी वाल्मीकि-आश्रम में ठहरे, उसी रात सीता जी के दो पुत्र कुश और लव उत्पन्न हुए थे। शत्रुघ्न जी भी आधी रात के समय सीता की पर्णशाला तक गए औ उनसे कहा—यह बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम्हारे पुत्र हुए। उस समय संभवतः श्रावण मास का आरंभ था—

तदा तस्य प्रहृष्टस्य शत्रुघ्नस्य महात्मनः।
व्यतीता वार्षिकी रात्रिः श्रावणी लघु विक्रमा॥ (७।६७।१३)

इसके बाद शत्रुघ्न जी पश्चिम दिशा की ओर चलकर सात रात मार्ग में बिता पुण्य-कर्मा च्यवनादि ऋषियों के यमुना-पार के आश्रम में पहुँचे।

अब सोचने की बात है कि अयोध्या से मथुरा जाने के लिये शत्रुघ्न जी कौन सा मार्ग चुन सकते थे। अयोध्या से बनकट पूर्व-दक्षिण दिशा में लगभग सवा सौ मील पर है और बिठूर दक्षिण-पश्चिम सौ मील के लगभग पड़ता है। बनकट से बिठूर लगभग पौने दो सौ मील पड़ेगा। बिना कारण इतना लंबा मार्ग वर्षा के आरंभ समय में नहीं चुना जा सकता। इसके सिवा बनकट के मार्ग से मथुरा पहुँचने में यमुना के दक्षिणी किनारे-किनारे जाना पड़ता और तमसा, वाल्मीकि, पयस्विनी, बागमती, धसान, केन, चंबल आदि कितनी ही नदियाँ पार करनी पड़तीं;

किंतु बिठूर से होकर वे गंगा और यमुना के बीच के मार्ग से बिना किसी नदी पहाड़ का सामना किए मथुरा के पास यमुना-किनारे पहुँच सकते थे। अयोध्या से यों प्रायः सौ मील का मार्ग बिठूर तक पूरा कर दो सौ मील और चलकर मथुरा पहुँचा जा सकता है। हुआ भी यही; दो रात बिता तीसरे दिन शत्रुघ्न जी वाल्मीकि-आश्रम पहुँचे और सात रात बिता मथुरा पहुँच गए। राम से लवण-वध की प्रार्थना करनेवाले च्यवन आदि ऋषियों का आश्रम यमुना के उस पार था। इसलिये शत्रुघ्न जी ऋषियों से मिलने के लिये यमुना पारकर तब मथुरा के फाटक तक पहुँचे थे—

एतस्मिन्नन्तरे वीर उत्तीर्य यमुनां नदीम।
तीर्त्वा मधुपुरद्वारि धनुष्पाणिरतिष्ठत ॥ (७।६८।३)

यदि बनकट वाले आश्रम से उन्हें मथुरा जाना पड़ता तो फिर उन्हें यमुना पार करने की आवश्यकता न पड़ती; क्योंकि बनकट के यमुना-संगम से पूर्व में होने के कारण गंगा पार होनेपर पश्चिम की ओर चलकर यमुना के दक्षिणी तट से ही चलते हुए उन्हें मधुपुरी मिल जाती। इसलिये यही अनुमान उचित प्रतीत होता है कि सीता जी का वनवास वाल्मीकि जी के बिठूरवाले आश्रम में ही बीता था।

इतना ही नहीं। शत्रुघ्न जी ने लवणासुर को श्रावण मास में ही मारकर उसी महीने में वहाँ अपना राज्य प्रतिष्ठित किया। बारह वर्ष बीतने पर उन्होंने इच्छा की कि अब चलकर रामचंद्र जी का दर्शन करना चाहिए। तब फिर पूर्व की भाँति सात-आठ दिन चलकर शत्रुघ्न जी वाल्मीकि-आश्रम पहुँचे (७।७१।१,३)। रात में उन्होंने सीता के बालकों को वीणा के स्वर में रामचरित गाते हुए सुना (७।७१।१४-१६)। अस्तु, यही निश्चित जान पड़ता है कि उस समय अयोध्या से मथुरा जाने के लिये बिठूर होकर ही उचित मार्ग था। वह मार्ग बनकट या तमसा-तीर होकर कभी हो नहीं सकता। अतः यह भी निश्चित है कि सीता जी ने अपने वनवास का समय वाल्मीकि जी के बिठूरवाले आश्रम में ही बिताया था।

इस प्रकार उस समय वाल्मीकि ऋषि के तीन आश्रम रहे होंगे—एक तमसा और गंगा के संगम के निकट; दूसरा यमुना के दक्षिणी किनारे चित्रकूट के समीप; और तीसरा गंगा के दक्षिणी किनारे पर बिठूर के पास।

—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल

भूषण का रचनाकाल

भूषण का जन्मकाल जो 'शिवसिंहसरोज' में दिया गया है वह १७३८ है। 'शिवभूषण' के निर्माणकाल का जो दोहा मिलता है उसमें १७३० संवत् दिया गया है। जनश्रुति के अनुसार 'शिवाबावनी' पहले बनी और 'शिवभूषण' बाद में। 'शिवाबावनी' में संवत् १७३० के बाद की घटनाएँ हैं इसलिये शिवभूषण के निर्माणकाल को श्री भगीरथप्रसाद दीक्षित जाली मानते हैं। शिवभूषण के निर्माण-काल का दोहा हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की 'खोज की रिपोर्ट' (सन् १९२३) में दिया हुआ है। इसमें दो प्रतियों के विवरण हैं। एक तो वही प्रति है जिसके आधार पर श्री मिश्रबंधु महोदयों ने अपनी भूषण-ग्रंथावली संपादित की और दूसरी अन्यत्र की। काशिराज के पुस्तकालय में जो शिवभूषण है उसमें भी यह दोहा है, पर पाठ में अंतर है। अभी हाल में मुझे एक प्रति स्वर्गीय वैद्यराज पंडित चुन्नीलाल जी के संग्रह से श्री लक्ष्मीशंकर जी व्यास द्वारा मिली है जो प्राप्त प्रतियों में सबसे प्राचीन है। इसका लिपिकाल १८१८ है। इसमें वह दोहा उपस्थित है। पाठ वही है जो काशिराज के पुस्तकालय वाली प्रति में है। गोविंद गिल्ला भाई के पास एक प्रति थी जिसका हवाला उन्होंने अपने गुजराती 'शिवराजशतक' में दिया है। उसमें भी यह दोहा मिलता है। इस प्रकार दोहा जाली नहीं। अतः 'शिवभूषण' का निर्माणकाल संवत् १७३० निःसंदिग्ध है।

अब 'शिवसिंह सरोज' में दिए जन्मकाल को देखिए। हिंदी के ऐतिहासिकों को 'शिवसिंह सरोज' के संबंध में बहुत बड़ा धोखा हुआ है। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि उसमें कवियों का कविताकाल दिया गया है, जन्मकाल नहीं। स्वयं शिवसिंह जी ने अपनी भूमिका में स्पष्ट लिखा है—"फिर कवियों का एक सूचीपत्र बनाकर उनके ग्रंथ, उनके विद्यमान होने के सन्-संवत् और उनके जीवन-चरित्र, जहाँ तक प्रकट हुए लिखे।" ये सन्-संवत् लिए कहाँ से गए, इसका भी उल्लेख है। "जिन कवियों के ग्रंथ मैंने पाए उनके सन्-संवत् बहुत ठीक ठीक लिखे हैं और जिनके ग्रंथ नहीं मिले उनके सन्-संवत् हमने अटकल से लिख दिए हैं।" भूषण का इन्हें कोई ग्रंथ नहीं मिला। ये साफ लिखते हैं—"इनके बनाए हुए ग्रंथ शिवराजभूषण, भूषणहजारा, भूषणउल्लास, दूषणउल्लास ये चार सुने जाते हैं।" फिर यह १७३८ इन्होंने किस अटकल से लिखा? शंभुनाथ सुलंकी और मतिराम को इन्होंने मित्र लिखा है और दोनों के सं० १७३८ है। भूषण और

मतिराम को भाई माना है, अतः मतिराम का १७३८ संवत् यहाँ भी रख दिया गया है। रही यह बात कि शिवसिंहसरोज में 'में उत्पन्न हुए' क्यों छपा है। इसका उत्तर यह है कि ग्रंथ छापते समय छापनेवालों या उसके संपादन की यह करतूत है। ह० लि० हिंदी ग्रंथों की खोज की रिपोर्ट (सन् १९२३) में 'शिवसिंहसरोज' की हस्तलिखित प्रति का जो विवरण दिया गया है उसमें 'उ०' ('में उत्पन्न हुए' का संक्षेप) किसी कवि के नाम के साथ नहीं है। शिवसिंहसरोज के इन सन्-संवतों के जन्मकाल मानकर डाक्टर ग्रियर्सन, श्री मिश्रबंधु महोदय, आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि सभी साहित्य के इतिहास-लेखकों को धोखा खाना पड़ा है और जहाँ उन्हें अन्य साधनों से कवि का समय मिला है वहाँ परेशानी भी बढ़ी है। अंत में कहीं कहीं, विशेषतः श्री मिश्रबंधुओं ने, यह भी लिखा है कि शिवसिंहसरोज के सन्-संवतों को कविताकाल स्वीकृत करने पर साहित्य के इतिहासों में बहुत कुछ उलट-फेर होगा, और इसके सिवा कोई चारा नहीं है।

'शिवाबावनी' को लीजिए। इसे 'शिवभूषण' से पहले की रचना मानना बहुत बड़ा भ्रम है। 'शिवाबावनी' और 'छत्रसालदशक' नाम के संग्रह स्वयं भूषण किए क्या प्राचीन काल के संग्रह तक नहीं हैं। संवत् १९४६ में सबसे पहले गोवर्धनदास लक्ष्मीदास ने कच्छभुज से ये दोनों संग्रह प्रकाशित किए हैं। इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

"कोई कोई रसिक लोगों के पास से एकाधे कवित्त का पता मिलें वहाँ जाय लिख लेना जारी रख थोडे कवित्त जमा किए थे. बाद भगवत्संकल्प ऐसा ही हुआ की, प्रतापी भूषण कविराज के श्रम का नाश न होना और उन्होंने बनाई हुई कविता का पुनर्जन्म या जीर्णोद्धार होना वास्ते निमित्त रसिक सारस्वत व्यास हरीराम सूर जी और मित्रवर्य रा० रा० काशीनाथ पांडुरंग परब ईन महाशयों ने यह ग्रंथ प्रसिद्ध करने का मुजे उत्तेजन दिया उसपर से मुजे हिम्मत हुआ मैनें बहुत सा शोध करने मे कुछ कवित्त जमा हुए और जिस ग्रंथ का नाम हम उपर लिख गए हैं वो सिवराजभुखण संपूर्ण ग्रंथ भी हाथ आया बाद भासा काव्य में परिपूर्ण पेहेलवान् मिसिर श्री गुरुप्रसाद जी भवानीप्रसाद जी इन्होंने कवित्तों की और इस ग्रंथ कों सोधने की बहोत सी मदद करने सें यह अपूर्व काव्य शिवाबावनी ग्रंथ खडा हुआ. जो यह कृपापूर्वक श्रम न लेते तो ईस सहर में यह ग्रंथ खडा न होता. इस ग्रंथ मे शिवाजी महाराज छत्रपती के युद्ध प्रसंग के चुने हुए ५२ कवित्त रखे

गए है. और महाराजा छत्रसाल पन्नानरेस के इसी कविराज भूखण के बनाये हुए १२ कवित्त रखे हैं और कुछ छुट काव्य भी रखी है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि सं० १६४६ के पूर्व न तो 'शिवाबावनी' का पता था और न 'छत्रसालदशक' का। इन संग्रहों की कोई हस्तलिखित प्रति भी तो आज तक नहीं मिली या सुनी गई। इस प्रकार भूषण का प्रामाणिक रचनाकाल सं० १७३० ही है, क्योंकि यही उनके 'शिवभूषण' के समाप्त होने का संवत् है।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

चयन

जैसलमेर का जिनभद्र ज्ञानभंडार

जैसलमेर के बहुत प्राचीन जैन-ग्रंथ-संग्रह 'जिनभद्र ज्ञानभंडार' का डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित परिचय जो दिल्ली के "हिंदुस्तान" (हिंदी) पत्र में प्रकाशित हुआ था, ज्ञानपिपासुओं के लिये उसकी उपयोगिता और महत्त्व की दृष्टि से यहाँ उद्धृत है—

जैसलमेर के 'जिनभद्र ज्ञानभंडार' से हस्तलिखित पुस्तकों का एक भंडार अभी हाल ही में प्रकाश में आया है । इस भंडार की स्थापना पंद्रहवीं शती में हुई थी और उसके बाद से यह जनता के लिये प्रायः बंद ही रहा । अभी हाल में स्वनामधन्य मुनि पुण्यविजयजी के प्रयत्न से यह भंडार खोला गया है और इसके ग्रंथों की सूची बनाई गई है । संरक्षकों की अनुमति से भंडार के विशिष्ट और चुने हुए ग्रंथ माइक्रोफिल्म फोटोग्राफी के लिये दिल्ली लाए गए और वाणिज्य-मंत्रालय की कृपा से ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंटेलिजेन्स रूम, कर्वीसवे, नई दिल्ली में इनकी माइक्रोफिल्म प्रतिलिपियाँ तैयार हुईं ।

जैसलमेर वापस जाने से पूर्व इनकी एक प्रदर्शनी करने का विचार श्री फतेहचंद्र बेलाणी (बेलानी) ने प्रकट किया, जो इन ग्रंथों की कार्य व्यवस्था के मंत्री हैं । तदनुसार राष्ट्रीय संग्रहालय, गवर्नमेंट हाउस, नई दिल्ली में इनके प्रदर्शन का प्रबंध किया गया और प्रदर्शनी शनिवार २४ फरवरी को १ से ५ बजे तक जनता के लिये खुली रही ।

इस भंडार में ४०० ग्रंथ ताड़पत्र पर और एक सहस्र से ऊपर कागज पर लिखे हुए हैं । ये ग्रंथ दसवीं शताब्दी से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी तक के हैं । इनमें से अधिकांश ग्रंथ ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के हैं । ज्ञात होता है कि जिस समय पंद्रहवीं शती में यह भंडार जैसलमेर में स्थापित किया गया उस समय इसके संस्थापक ने गुजरात की तरफ के भंडारों में से कई शताब्दी पहले के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह किया, अथवा यह भी संभव है कि गुजरात ही के किसी प्राचीन भंडार के अधिकांश ग्रंथों को सुरक्षा की दृष्टि से जैसलमेर ले जाकर एक नए भंडार की स्थापना की ।

अपने देश के सैकड़ों जैन-मंदिरों के साथ लगे हुए सैकड़ों ज्ञानभंडार इस समय भी हैं। इनमें सुरक्षित ग्रंथों की संख्या लाखों तक पहुँचती है। यह अनमोल सामग्री मंदिरों की कृपा से अभी तक बची रह गई है। इन सबमें भी जैसलमेर के 'जिनभद्र ज्ञानभंडार' को बहुत ही प्राचीन समझना चाहिए। इस भंडार में देश के कुछ सबसे प्राचीन ताड़पत्रीय ग्रंथ पाए गए हैं। सबसे प्राचीन ग्रंथ दसवीं शती का है जिसका नाम 'विशेषावश्यक भाष्य' है। भंडार में जैनों के आगम ग्रंथों का बहुत अच्छा संग्रह है। मूल अर्धमागधी के अन्य ग्रंथ, उनके निर्युक्ति भाष्य और टीकाओं के विशिष्ट हस्तलेख यहाँ मिले हैं जिनके आधार पर अंग साहित्य का संशोधित संस्करण प्रकाशित करने में सुविधा होगी। आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती सूत्र, भगवती विवाह-प्रज्ञप्ति, ज्ञाता धर्मकथा, उपासक दशांग, विपाकसूत्र राजप्रश्नीय आदि संपूर्ण आगम ग्रंथों की कई कई प्रतियाँ मिली हैं। इसी प्रकार इन सूत्र-ग्रंथों पर लिखी हुई बृहत्काय निर्युक्ति· चूर्णि एवं भाष्य भी प्राप्त हुए हैं।

किंतु इस ज्ञानभंडार की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सांख्य, मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग आदि भारतीय दर्शन एवं काव्य, अलंकार, छंद, नाटक, आख्यायिका, कथा-साहित्य, कोष, व्याकरण आदि विषयों के भी चुने हुए अनेक ग्रंथ संगृहीत किए गए थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की भी एक नई प्रति प्राप्त हुई है जिसकी हस्तलिखित प्रति चौदहवीं शती में उतारी गई थी। इससे ज्ञात होता है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र की परंपरा अपने देश में चौथी शती ई० पूर्व से चौदहवीं शती तक चालू रही। आशा है इस टीका के संपादन और प्रकाशन से अर्थशास्त्र की सामग्री पर नया प्रकाश पड़ेगा।

ई० प्रथम शती से लेकर लगभग एक सहस्र ई० तक इस देश में विशाल बौद्ध साहित्य की रचना हुई। उसके कुछ मूल संस्कृत ग्रंथों की प्राप्ति इस भंडार में हुई है। आचार्य दिङ्नाग-कृत'न्यायप्रवेश' ९४६ ई० का लिखा हुआ मिला। नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य कमलशील लिखित 'तत्त्वसंग्रह' ग्रंथ उनकी पंजिका टीका के साथ बारहवीं शती का लिखा हुआ इस भंडार में मिला है। न्यायप्रवेश ग्रंथ पर जैन पंडित मल्लवादिकृत टिप्पणी भी प्राप्त हुई है।

'सांख्यसप्तति' पर दो नई टीकाएँ प्राप्त हुई हैं (वि० सं० ११७३ और १२०० में लिखित)। हेमचंद्र व्याकरण पर कनकविजयकृत न्यास टीका की लेखक की

निजी प्रति (१२७१ वि० सं०) मिली है। प्रसिद्ध जैन युगप्रधान पंडित श्री जिनदत्त सूरि की निजी प्रति (बारहवीं शती) निशीथसूत्रकी भंडार में सुरक्षित है।

प्राचीन कथा-साहित्य विषय के कुछ बहुत अच्छे ग्रंथ भंडार में रखे मिले हैं। जैसे धनपालकृत 'तिलकमंजरी' (११३० वि० सं०), राजा भोजकृत 'शृंगार-मंजरी' (ग्यारहवीं शती, अभी तक अज्ञात नया ग्रंथ), उद्योतन सूरिकृत 'कुवलयमाला कहा' (वि० सं० ११३६), सुबंधकृत 'वासवदत्ता' (वि० सं० १२०७), जिन-चंद्र सूरिकृत 'संवेग रंगशाला' (नवीन अप्रकाशित ग्रंथ जिसमें शृंगार और वैराग्य-संबंधी कहानियाँ हैं, वि० सं० १२०७), 'विलासवती कथा' (अपभ्रंश भाषा), हरि-भद्र सूरिकृत 'समराजित कथा' (प्राकृत, वि० सं० १२५०), जिनेश्वर सूरि कृत 'निर्वाण लीलावती' (वि० सं० १२६५)।

नैषधचरित्र की नारायणी टीका वि० सं० १२५२ में लिखी गई थी, उसके कुछ ही वर्ष बाद की प्रति भंडार में मिली है। न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन भाष्य, भारद्वाज-कृत न्यायवार्तिक, उसपर वाचस्पति की न्यायतात्पर्य टीका, उसपर उदयन लिखित न्यायतात्पर्य परिशुद्धि और उसपर श्रीकंठ कृत न्यायटिप्पणक, ये सब ग्रंथ एक ही संग्रह में ताड़पत्र और कागज दोनों पर लिखे मिले हैं, जो तेरहवीं शती वि० में लिखे गए थे।

अभी तक हमारे देश में जो कागज पर लिखे गए प्राचीन ग्रंथ मिले हैं उनमें सबसे प्राचीन 'कर्मग्रंथ टिप्पण' नामक ग्रंथ वि० सं० १२४६ का लिखा हुआ प्राप्त हुआ है। अपने देश में कागज लगभग उसी समय आना शुरू हुआ था।

मध्यकाल में ताड़पत्र हिंदेशिया के द्वीपों से लाया जाता था जिसे 'श्रीताल' कहते थे। भंडार में ३४ इंच लंबे ताड़पत्र मिले हैं और प्रदर्शनी में भी ३४ इंच लंबा ताड़पत्रीय ग्रंथ प्रदर्शित है। प्रत्येक पत्र पर चार से आठ तक पंक्तियाँ सुंदर काली स्याही में ग्यारहवीं, बारहवीं शती की देवनागरी लिपि में लिखी हुई है।

राजभाषा-परिषद् का अध्यक्षीय भाषण

गत १० मार्च को दिल्ली में आयोजित राजभाषा-परिषद् के अध्यक्ष पद से दिए गए श्री ग०वा० मावलंकर (भारतीय संसद् के अध्यक्ष) के भाषण का मुख्य अंश राजभाषा हिंदी के निर्माताओं के विचारार्थ यहाँ उद्धृत है—

भारतीय संविधान के ३४३ अनुच्छेद ने निश्चय किया है कि भारतीय संघ की राजभाषा हिंदी और लिपि देवनागरी होगी और अनुच्छेद ३५१ ने ऐसा आदेश

दिया है कि हिंदी भाषा का प्रसार और उसका विकास करना संघ का कर्तव्य होगा।

भारत के स्वतंत्र होने पर यह तो साफ बात है कि भारत का सारा व्यवहार अब अंग्रेजी में नहीं चल सकता, क्योंकि लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनने से यह आवश्यक हो गया है कि हमारा सारा व्यवहार ऐसी भाषा में होना चाहिए जिसे आम लोग समझ सकें। वर्षों से प्रचलित प्रथा को यदि हम जल्द से जल्द बदलने की कोशिश न करें तो इस संविधान का उद्देश्य यानी स्वतंत्रता की प्राप्ति हम बहुत समय तक नहीं कर सकेंगे। इसलिये राजभाषा हिंदी का भारत के सब प्रांतों में प्रचार करना, इसको हरएक व्यवहार में दाखिल करना और इसका विकास करना, हमारा कर्तव्य है।

वह हिंदी कैसी हो, इस संबंध में संविधान के अनुच्छेद ३५१ में कहा है कि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किए बिना हिंदुस्तानी तथा अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिये मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित हो। अष्टम अनुसूची में हिंदी के अतिरिक्त असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तामिल, तेलेगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम और संस्कृत भाषाओं का उल्लेख है। संविधान के इस अनुच्छेद में राजभाषा हिंदी का स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसका चित्र दिया है और इसमें इस भाषा का क्षेत्र और उसकी मर्यादा भी दी हुई है।

इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है और यह भारतीय जीवन के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हरएक प्रकार के हरएक पहलू में पहुँच जाती है और इसकी मर्यादाएं ये हैं—

१—भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संपूर्ण तत्त्वों की अभिव्यक्ति का वह माध्यम हो सके।

२—भारत में प्रचलित अन्य भाषाओं के रूप, शैली और पदावली को आत्मसात् करे।

ऐसी अखिल-भारतीय स्वरूप की भाषा बनाने में, उसके शब्द-भंडार के लिये

जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो, वहां मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः दूसरी अन्य प्रांतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण करने की स्वतंत्रता दी गई हो।

किसी भी भाषा का विकास करने के लिये उसमें शास्त्रीय दृष्टि और शास्त्रीय पद्धति रखना आवश्यक है। परंतु साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि आम जनता जिस भाषा को समझ सकेगी, वही भाषा आखिर में लोकभाषा बनेगी। इसलिये शास्त्रीय दृष्टि और पद्धति रखते हुए भी यह ध्यान में रखना जरूरी है कि आम जनता किस प्रकार के शब्दों को ग्रहण कर सकेगी। विद्यमान प्रांतीय भाषाओं का इतिहास आप सभी जानते हैं। उन सारी भाषाओं की माता संस्कृत ही है। परंतु व्याकरण-शुद्ध संस्कृत भाषा सामान्य लोग चूँकि बोल नहीं सके और न बराबर लिख सके, इस कारण प्राकृत यानी जनपद की भाषा का निर्माण हुआ और संस्कृत का यह एक प्रकार का भ्रष्ट रूप था। इस प्राकृत में अनेक प्रकार की अदला-बदली अलग अलग प्रांतों में अलग अलग प्रकार से हुई जिससे अनेक प्रकार की प्राकृत भाषाएँ अलग अलग प्रांतो में प्रचलित हुईं और आगे चलकर ऐसी भाषाओं से विद्यमान प्रांतीय भाषाओं का जन्म हुआ। भाषाओं का यह इतिहास ध्यान में रखते हुए, चाहे राजभाषा का स्वरूप जनपद की भाषा का रखना हो, अथवा संस्कृतमय रूप रखना हो, यह बात ध्यान में रखनी होगी कि भारत की अन्य प्रचलित भाषाएँ जिस स्वरूप में आज बोली जा रही है, उस स्वरूप को ध्यान में लेकर राजभाषा के शब्दभंडार को बनाना आवश्यक होगा। केवल शास्त्रीय दृष्टि से या शास्त्रीय पद्धति से चाहे कितनी शुद्ध हिंदी हो, मुझे भय है कि ऐसी शुद्ध संस्कृतमय हिंदी केवल पंडितों की पुस्तकों मे अथवा सरकार के कानूनों में पड़ी रहेगी और लोकभाषा का प्रवाह अपने निजी ढंग पर चलता रहेगा, वह इससे प्रभावित न हो सकेगी।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि हम भाषा में शास्त्रीय शुद्धि का प्रयत्न न करें। उसका तो हम प्रयत्न अवश्य करें और धीरे-धीरे जैसे जैसे लोग इसके शब्द-भंडार को समझेंगे, तैसे तैसे इसमें समय समय पर तबदीली होती जायगी। भाषा को बनाने का विचार मान्य होते हुए भी पहले तो अंग्रेजी भाषा को हटाने का विचार अधिक महत्त्व का है। ऐसा विचार करने में हमारे मन में अंग्रेजी के लिये कोई विरोध या द्वेष का भाव नहीं है, लेकिन अपनी आत्मीयता हम तभी स्थापित कर सकेंगे जब हम अपने सभी आवश्यक व्यवहार में इस भाषा की जगह अपनी भाषा को स्थापित कर सकें।

हमारा तो काम आज अंग्रेजी भाषा की जगह अपनी भाषा को दाखिल करना है। और जो कुछ हम इस दिशा में प्रयत्न करेंगे उससे अगले १०-१५ वर्ष में भाषा का अवश्य विकास होगा। आज जो भाषा हम बनाएँ, उसमें जो भी शब्द हम रखें उसमें आगे चलकर हम आवश्यक हेरफेर कर सकते हैं। हमारे ही देश में क्या, अन्य देशों में भी भाषा सदा एक तरह से नहीं रहती है, उसमें सदैव परिवर्तन होते रहते हैं और इसी प्रकार से हम हिंदी का भी विकास कर सकेंगे।

हम जिस प्रकार की हिंदी चाहते हैं उसमें शास्त्रीय और शुद्ध हिंदी रखने का हम अवश्य प्रयत्न करेंगे, और शब्द-भंडार को समृद्ध करने के लिये जहाँ हमको आवश्यक या वांछनीय प्रतीत होगा वहाँ हम संस्कृत के शब्द भी अवश्य लेंगे। लेकिन ऊपर मैंने जो खास बात भाषा के स्वरूप के बारे में कही, उसको ध्यान में रखना चाहिए। आज की संसार की और भारत की स्थिति को देखते हुए यह आवश्यक है कि हम सब संगठित रहें, आपसी मेल-जोल से रहें और हमारे बीच कम से कम झगड़े हों और हम एक दूसरे का विश्वास और सहयोग प्राप्त कर सकें। भाषा की शुद्धि या शास्त्रीय दृष्टि का परिपोषण चाहे इसमें कम हो, तो भी ऐसी कमी से कुछ देश को या देश की संस्कृति को हानि नहीं पहुँचेगी, परंतु देश में यदि पारस्परिक सहयोग और विश्वास न हो तो न मालूम भविष्य में हमारी स्थिति क्या होगी। इस उद्देश्य को सामने रखते हुए और आज की परिस्थिति में अच्छी तरह से सोच समझ कर हमें भाषा का स्वरूप निश्चित करना चाहिए, और ऐसा करते समय कई बातों का ख्याल रखना चाहिए। इसको मैं थोड़े उदाहरण देकर बतलाऊँगा।

पहली बात तो यथार्थ में धार्मिक न होते हुए भी धर्म के नाम पर आज तक हमारी कमनसीबी के कारण इस देश में सांप्रदायिक झगड़े हुए और आखिर में इतनी हद तक ये चले कि देश का विभाजन हुआ। इस बारे में मैं अधिक नहीं कहना चाहता, सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि संस्कृत के प्रति भारतीय मुसलमानों का और उर्दू तथा अरबी के प्रति भारतीय हिंदुओं का विरोध-भाव धर्म के कारण भी है। दूसरी बात राजनीतिक स्वरूप की है कि सभी अहिंदी भाषा-भाषियों के मन में कुछ ऐसा संदेह है कि हिंदी भाषा-भाषी प्रांतवाले उनके ऊपर अपनी हुकूमत चलाना चाहते हैं। तीसरी बात यह है कि प्रांतीय भाषावालों को

कुछ ऐसा लगता है कि हिंदी को स्थापित करने में उनकी जो अपनी प्रांतीय भाषाएँ हैं, उनको हटानेका प्रयत्न चल रहा है।

इस प्रकार की भिन्न भिन्न मान्यताओं की वास्तविकता में कुछ आधार है, ऐसा मैं नहीं कहना चाहता, लेकिन हम यह बात नहीं भुला सकते कि ऐसा भय और संशय लोगों के दिलों में है। उस भय और संशय को हटाना हमारा कर्तव्य है।

साथ ही साथ हिंदी भाषा का स्वरूप निश्चित करने में हम विद्यमान हिंदी में ऐसी अखिल-भारतीय हिंदी कौन सी भाषा को समझेंगे। हिंदी-भाषाभाषी प्रांतों में बोली जाती हिंदी के अलग अलग रूप हैं। जैसे उत्तरप्रदेश में कई भागों में वह ठीक-ठीक सामान्य स्वरूप की है और कई भागों में इसको लगभग उर्दू का स्वरूप प्राप्त हुआ है। मध्यभारत और राजस्थान इत्यादि में इसका स्वरूप ज्यादातर संस्कृत-मय होता है। तो यदि यह कहें कि हिंदीवाले जो भाषा आज बोलते हैं, उस भाषा को हिंदी माना जाय तो इसमें भी यह कठिनाई पड़ती है कि हिंदी का स्वरूप अधिक संस्कृतमय हो या अधिक उर्दूमय हो।

आज आवश्यकता इस बात की है कि जिस हिंदी को हम राजभाषा का स्वरूप देना चाहते हैं, वह अखिल-भारतीय भाषा हो जिससे कन्याकुमारी का भारतीय, द्वारका का भारतीय और बंगाली, हर कोई आसानी से उसको समझ सके। ऐसा उसका व्यापक रूप होना चाहिए। इसी कारण प्रांतीय भाषाओं में जो शब्द काफी प्रचलित हैं, उनको हिंदी भाषा में अपनाने की खास जरूरत है जिससे अन्य प्रांतवालों को समझने में सुविधा हो। इतना ही नहीं, बल्कि उनमें से ऐसी भावना पैदा हो कि राजभाषा हिंदी में उनका भी स्थान है और वे उससे किसी प्रकार से बहिष्कृत नहीं हैं।

अंत में सभी प्रांतीय भाषावालों को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस प्रकार का भय और संशय रखने की जरूरत नहीं है कि हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि का प्रसार और विकास होने पर दूसरी प्रांतीय भाषाएँ नष्ट हो जायँगी। मैं तो समझता हूँ कि प्रांतीय भाषाएं पहले से और अधिक समृद्ध होंगी। आज अनेक लिपियों और भाषाओं के होने के कारण एक दूसरी भाषा में जो कुछ अच्छा साहित्य-भंडार होता है, उसकी जानकारी दूसरी भाषावाले को बहुत कम होती है, लेकिन जब सबकी एक लिपि हो जायगी तब तो मेरे जैसे आदमी तामिल या बँगला को आसानी से पढ़ सकेंगे और सबकी नींव एक संस्कृत जो सब भाषाओं की माता

है, होने से एक दूसरे के साहित्य को आसानी से पढ़ सकेंगे और अपनी अपनी भाषा का विकास कर सकेंगे। प्रांतीय भाषाओं और हिंदी में आपस में कोई विरोध-भाव नहीं है, बल्कि मैं तो मानता हूँ कि वे बहनों के समान एक दूसरे का साथ देनेवाली और मदद करनेवाली भाषाएँ हैं।

निर्देश

हिंदी

आधुनिक हिंदी साहित्य—श्रीराम शर्मा; "विशाल-भारत", फरवरी १६५१ [हिंदी साहित्य के इतिहासों मे दो ही एक मौलिक, शेप पिष्टपेषण मात्र। पं० पद्मसिंह शर्मा और कविवर "शंकर" जैसे हिंदी साहित्य के महान् व्यक्तियों के संबंध में उनमे अल्पज्ञता और उपेक्षा।]

काव्य की प्रेरणा—बलदेव उपाध्याय; "कल्पना", फरवरी १६५१ [भारतीय आलोचकों की दृष्टि में आत्मा ही काव्य की प्रेरक शक्ति। आधुनिक मनोविज्ञान में काव्य के संबंध मे फ्रायड और ऐडलर के मत एकांगी: परंतु हेडफील्ड के अनुसार मानस-विकास का लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार। युग-सिद्धांत के अनुसार आत्म-साक्षात्कार की वृत्ति ही काव्य की प्रेरक शक्ति। यह मत उपर्युक्त भारतीय मत से मिलता है।]

गीताज्ञान—वासुदेवशरण अग्रवाल; "विक्रम", मार्च १६५१ [गीता-ज्ञान मनुष्य के लिये है। प्राचीन कुरु जनपद में प्रचलित सामान्य लोकधर्म गृहपति-धर्म का आदर्श। वही पीछे गीताधर्म के रूप में प्रकट हुआ। भागवतों ने इस धर्म को स्वीकृत और विकसित कर धार्मिक समन्वय की दिशा में इस देश में बड़ा कदम उठाया।]

चिकित्सा-विज्ञान के हिंदी पारिभाषिक शब्द—सुरेंद्रनाथ गुप्त; विशाल-भारत, मार्च १६५१ [उक्त विषय के संबंध में विशेष रूप से तथा सामान्यतया सभी विषयों के पारिभाषिक शब्दों के संबंध में विचार तथा उपयोगी सुझाव।]

चीन का महाकवि लिपो—शची रानी गुर्टू; "भारती", मार्च १६५१ [१२०० वर्ष पूर्व के चीन के इस महाकवि की ख्याति आज तक अक्षुण्ण। उसी का भावात्मक परिचय।]

देवनागरी और रोमन लिपि—संपादकीय लेख; "कल्पना", फरवरी १६५१ [हिंदी के लिये रोमन लिपि के समर्थक डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मत का उल्लेख

करते हुए नागरी लिपि के दोषों और रोमन के विशेष गुणों को हिंदी पाठकों के विचारार्थ उपस्थित किया गया है ।]

प्रसाद की याद (क्रमशः)—राय कृष्णदास; "नई धारा", फरवरी १९५१ [कवि जयशंकर प्रसाद के सरस एवं स्फूर्तिदायक संस्मरण ।]

प्राचीन यूनानी सभ्यता और संस्कृति—विश्वंभर नाथ पांडे; "विश्ववाणी", मार्च १९५१ [ऐतिहासिक विवरण ।]

भगवान कालप्रियनाथ का प्राचीन मंदिर—वा० वि० मिराशी; भारती, मार्च १९५१ [आधुनिक कालपी में ही प्राचीन कालप्रियनाथ का सूर्य-मंदिर था जो सूर्य के तीन सर्वप्रसिद्ध मंदिरों में से था । भवभूति के नाटकों के प्रयोग इसी मंदिर में हुए थे ।]

महाराष्ट्र की संत कवयित्रियाँ—उषा कोलते; "नया समाज", फरवरी १९५१ [ग्यारह कवयित्रियों—महदाइसा, मुक्ताबाई, जनाबाई, सोयराबाई, निर्मला, कान्हो पात्रा, प्रेमाबाई, बहिणाबाई, राजाई (नामदेव की पत्नी), वेणाबाई, बाइया बाई—और उनकी रचनाओं का परिचय ।]

शाक्यों के विनाश का मूल कारण—आ० कौसल्यायन; भारती, मार्च १९५१ [शाक्यों का विनाश बुद्ध के अहिंसा सिद्धांत को अपनाने के कारण नहीं, मिथ्या जात्यभिमान के कारण हुआ था ।]

समकालीन हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियाँ और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि—सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन; "कल्पना" फरवरी १९५१ [वर्तमान पीढ़ी के हिंदी साहित्य में लक्षित विविध प्रवृत्तियों और उनकी प्रेरक सामाजिक स्थिति एवं भावनाओं की समीक्षा ।]

सम्राट् अशोक बनाम संप्रति—मिथिलाशरण पांडेय; विशालभारत, मार्च १९५१ [नवंबर १९५० के विशालभारत में प्रकाशित श्री नेमिचंद्र शास्त्री के "जैन धर्म का महान् प्रचारक सम्राट् संप्रति" शीर्षक लेख की आलोचना । 'परिशिष्ट पर्वन्' ग्रंथ का प्रमाण संदिग्ध । संप्रति का जन्मकाल ई० पू० ३०४ ऐतिहासिक प्रमाण के विरुद्ध । महान् अशोक से संप्रति की कोई तुलना नहीं ।]

सोम—वासुदेवशरण अग्रवाल; "कल्पना" दिसंबर १९५० [वेदों के 'सोम' शब्द का विशेष आध्यात्मिक अर्थ (रेत, वीर्य), सोदाहरण व्याख्या ।]

अंग्रेजी

आर द त्रिवेंद्रम ड्रामाज़ ऑव भास जिन्युइन ? —एन० वेंकटकृष्ण राव; श्रीवेंकटेश्वर ओरियंटल इंस्टीट्यूट पत्रिका, १।१।१ [१६१०-१५ ई० में त्रिवेंद्रम में प्राप्त भास के नाटक ६० प्रतिशत मूल भास रचित ही हैं, एक-आध दृश्य यत्र-तत्र बदले गए हों यह असंभव नहीं। स्मृतियों से तुलना करने पर स्पष्ट कि भास पर कौटिल्य और मनु का प्रभाव है। कौटिल्य का अनुमित समय ३०० ई० पू०, भास का २४०-१७० ई०पू०, मनु-पतंजलि १५० ई०पू०, कालिदास १८०-११० ई०पू० याज्ञवल्क्य १५० ई० पू०।]

ऑन टू माइनर ऋग्वेद प्रॉब्लेम्स—वित्तोरे पिसानी; "भारतीय विद्या" भाग १० [ऋ० १।३२।४ और १।३२।६ का अर्थ।]

ए नोट ऑन द वर्शिप ऑव इमेजेज़ इन जैनिज़्म (२०० ई० पू०-२०० ई०) प्रियतोष बनर्जी; बिहार रिसर्च सोसायटी पत्रिका ३०।१।२ [जैन मत में मूर्ति-पूजा का इतिहास]

ओरिएंटल ऐंड रिनासाँ आर्ट फ़ॉर्म्स—मदनजीत; "ईस्ट ऐंड वेस्ट" (इटली), भाग १ अंक २ [भारतीय कला तथा यूरप की पुनर्जागरणकाल की कलाकृतियों में कुछ बातों में साधारण साम्य, परंतु भाव की प्रधानता और शांतिदायक वातावरण भारतीय कृतियों की विशेषता, यद्यपि उनमें बाह्य सौंदर्य भी उच्चकोटि का।]

कल्चुरल रिलेशंस बिट्वीन इटैली ऐंड इंडिया—कार्लो फॉरमीची; ईस्ट-ऐंड-वेस्ट, १।२ [मध्यकाल और पुनर्जागरणकाल में दोनों देशों के संबंधों का इतिहास]

कॉन्सिडरेशंस ऑन ऋग्वेद १।१५२—लुई रेनाउ और लिलियन सिलबर्न; भारतीय विद्या, भाग १० [उक्त का अर्थ। इस मंत्र में वैदिक ज्ञान के संपूर्ण तत्त्वों का सारांश।]

कौटिल्य ऐंड द वेदज़—एच० जी० नरहरि; भा० वि० भाग १० [कौटिल्य अर्थशास्त्र का भारतीय समाज स्मृतियों की अपेक्षा वेदों के अधिक निकट। स्मृतियों में बालविवाह, सती, स्त्रियों का पुनर्विवाह वर्जित, परंतु अर्थशास्त्र में विहित। वेदों के प्रति आदर का भाव।]

जैमिनि-शबर ऐंड द सायंस ऑव ग्रामर—डी० बी० गर्ग; भंडारकर ओरियंटल इंस्टीट्यूट पत्रिका ३०।३-४ [पूर्वमीमांसा-सूत्रकार जैमिनि ने एक विशेष अधिकरण में वेदों का ठीक अर्थ करने के लिये व्याकरण का प्रामाण्य स्थापित किया है। जै० सू० भाष्यकार शबर ने व्याकरण की सहायता ली है, उन्हें पाणिनि के

व्याकरण का ज्ञान था और वे पतंजलि से परिचित और प्रभावित थे। शबर का समय १०० ई०।]

द डेट ऑव कनिष्क—डी० एस० त्रिवेद; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका ३०।३-४ [कनिष्क का भारतीय परंपरानुमोदित काल (१३४६–१३०६ ई० पू०), ही विश्वसनीय।]

द डेट ऑव मधुसूदन सरस्वती—सुलोचना ए० नचने; भं० ओ० रि० इं० प० ३०।३-४ [१५६५-१६७० ई०। मुख्य आधार वेदांत कल्पलतिका की आनंदाश्रम (पूना) की एक ह० लि० प्रति, जिसमें रचनाकाल सं० १७१७ दिया है।]

द डेट ऑव श्रीधर स्वामी—पी० के० गोडे; भं० ओ० रि० इं० प० ३०।३-४ [भागवत पुराण आदि के भाष्यकार श्रीधर स्वामी का समय १३६०-१४५० ई०।]

द पोजीशन ऑव जगण इन मात्रा छंदज—रामनारायण बी० पाठक—भा० वि० भाग १० [मात्रिक छंदों में जगण के विधान वा निषेध के महत्त्व का हेतु, मात्रिक छंदों के गेय होने के कारण ताल में उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता है।]

द पॉइंट ऑव व्यू ऑव द वैयाकरणज—के० ए० सुब्रमनिया ऐय्यर; ओरिएंटल रिसर्च पत्रिका (मद्रास) १८।२ [व्याकरण वेदांग है, पर किसी एक वेद का नहीं। इसी प्रकार दर्शनों में भी सबके साथ उसका सामान्य संबंध। परंतु वैयाकरण जानते थे कि व्याकरण का अपना स्वतंत्र क्षेत्र और नियम है। उसका सीधा लक्ष्य वस्त्वर्थ नहीं शब्दार्थ हैं—'शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।']

द भगवद्गीता ऐंड जैन लिट्रेचर—बी० रावन; भा० वि० भाग १० [भगवद्गीता का जैन साहित्य पर प्रभाव।]

दाशराज्ञ, ए न्यू अप्रोच—ए० डी० पुसालकर; भा० वि० भाग १० [ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन पुराण और महाभारत के वर्णनों से अधिक प्रामाणिक। पुराणों के ऐतिहासिक वर्णनों की प्रामाणिकता की जाँच वैदिक वर्णनों से करनी चाहिए न कि वैदिक वर्णनों की जाँच पौराणिक उल्लेखों से।]

दि आर्केयालॉजिकल ऐस्पेक्ट ऑव एशियाटिक कंटैक्ट्स विद इटैली—मेरियो बुसाग्ली; ईस्ट ऐंड वेस्ट, भाग १ अंक १ [इटली में प्राप्त एशिया की चार महत्त्वपूर्ण वस्तुओं (ई० पू० ७३ में ध्वस्त पांपिआई नगर के अवशेषों में प्राप्त, नग्न स्त्री की हाथीदाँत की एक अत्यंत सुंदर मूर्ति; दो चीन के बने काँसे के मद्यपात्र; एक

मध्यएशिया की हाथीदाँत की अन्य खंडित मूर्ति) की समीक्षा से एशिया-यूरप के प्राचीन मार्गों और संबंधों का अनुमान ।]

दि ऐस्ट्रॉनॉमिकल क्लासिफिकेशन ऑव द महाभारत टेक्स्ट—एम० राजाराव; भा० वि० भाग १० [ज्योतिष के आधार पर भारतसंहिता के वर्गीकरण से स्पष्ट कि भारत-कथा में सात बार संशोधन-परिवर्तन हुए हैं ।]

भगवद्गीता ऐंड अष्टाध्यायी—पी० सी० दीवान जी; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका २०।३-४ [अष्टाध्यायी की परीक्षा से विदित होता है कि पाणिनि मूल भारतसंहिता, उसके कर्त्ता एवं वेद संहिताओं के संकलयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास, उनके शिष्यों द्वारा स्थापित वैदिक 'चरणों' की परिपाटियों तथा उनके प्रशिष्यों से परिचित थे । गीता भारत का अंग, पाणिनि के पूर्व की रचना, प्रारंभिक स्मृति-काल की चीज ।]

म्युज़िक ऐंड डांस इन कालिदास (सचित्र)—के० वी० रामचंद्रन; ओ० रि० पत्रिका, १८।२ [कालिदास में संगीत और नृत्यकला के उल्लेख उनके उत्कृष्ट कला-प्रेम तथा उनके समय में उन कलाओं की वास्तविक उन्नति के परिचायक हैं; जावा, श्याम, कंबोडिया आदि की जीवित परंपराओं से इसका समर्थन ।]

वृत्र—बुद्धिप्रकाश; भं० ओ० रि० इं० पत्रिका, २०।३-४ [वृत्र पंजाब और पश्चिमी हिमालय में रहनेवाली भारतीय जाति थी जिसकी उच्च कोटि की नगर-सभ्यता थी । इनकी सभ्यता असुरों—असीरियावालों—की सभ्यता से मिलती थी । इंद्र ने सप्तसिंधु को इस जाति से मुक्त किया था । दस्यु भी आर्य-सीमा पर रहनेवाली भारतीय जाति । वृत्र दस्युओं के पुरोहित, ब्राह्मण, तपस्वी, देवों के प्रिय, मायावी । विजेता आर्यों ने उनका धर्म ग्रहण किया । वैदिक धर्म पहले अनार्य । साथ ही आर्य आक्रमणकारी भारतीय समाज में आध्यात्मिकता और सामाजिक समानता की भावना लाए । बाहरी विजेताओं के प्रभाव से सदा ही भारतीय समाज में उदारता का संचार हुआ ।]

वेदिक स्टडी, इट्स हिस्ट्री ऐंड इट्स फ्यूचर—लुई रेनाउ; ओ० रि० प०, १८।२ [पिछले सौ वर्षों में यूरप और भारत में वैदिक साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास ।]

शाह हेमू विक्रमादित्य, दि एंपरर ऑव इंडिया—रावजी नेमचंद शाह; भा० वि० भाग १० [कुछ ह० लि० पुस्तकों के आधार से प्रमाणित कि हेमू ने अपने

पराक्रम से दिल्ली का सिंहासन हस्तगत कर ५ मास ७ दिन राज्य किया था और 'विक्रमादित्य' उपाधि धारण की थी।]

सम टेडिशनल क्रॉनॉलॉजिकल कंसिडरेशंस–डी० आर० मनकद; भा० वि०, भाग १० [बौद्ध, जैन तथा पुराणों की काल-सूचियों में समय-समय पर परिवर्तन किए गए। उनमें अंतर का कारण यह है कि हमारे कुछ इतिहासों में अ-राट् (राजा रहित) कालों को छोड़ दिया है तथा महाभारत के समय में ६५३ या ७५३ वर्षों का अंतर माना है।]

सम प्रॉब्लेम्स कंसर्निंग गुर्जर प्रतिहारज–आर० सी० मजूमदार: भा० वि० भाग १० [गुर्जर पहले जाति थी; जहाँ जहाँ बसी, देश को अपना नाम दिया। उन्हें विदेशी मानना आवश्यक नहीं। कन्नौज के प्रतिहार सम्राट् गुर्जर थे। उनकी मूल राजधानी उज्जयिनी मानी जा सकती है। गुर्जर-प्रतिहार का अर्थ गुर्जर जाति का प्रतिहार कुल।]

समीक्षा

साकेत-परीक्षण—लेखक श्री शंभुप्रसाद बहुगुणा; प्रकाशक श्री कुसुमपाल तथा लेखक, आई० टी० कालेज, लखनऊ। पृष्ठ सं० ६२ (डिमाई अठपेजी); मूल्य १॥)

साकेत-परीक्षण में श्री मैथिलीशरण गुप्त के प्रसिद्ध प्रबंधकाव्य 'साकेत' की परीक्षा की गई है। लेखक ने परीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला है—"गुप्त जी कवि नहीं हैं, किंतु इसी से उनके साहित्यिक कार्य का महत्त्व घट नहीं जाता। एक समय था जब भारत-भारती को रखने और पढ़ने की वजह से स्कूलों में रस्टिकेशन किया जाता था, इधर-उधर गाँवों में शिक्षित और अर्धशिक्षित लोग भारत-भारती के हरिगीतिका छंद को पढ़ पढ़कर अपनी निद्रा में जग रहे थे, उस समय गुप्त जी की भारत-भारती ने वह काम किया जिसे हजारों आदमी भी मुश्किल से कर सकते थे।"—६२ पृष्ठों की परीक्षा-रिपोर्ट का सारांश यही है। बड़े दुःख का विषय है कि समालोचना की वह पद्धति जो शुक्ल जी के पहले चलती थी, फिर अपना सिर ऊपर उठा रही है और खंडनात्मक आलोचनाओं की रुचि बढ़ने लगी है। ऐसी आलोचनाओं का युग लद चुका है। पर स्वतंत्रता के नाम पर आलोचना का वही पुराना राग फिर से गाया जाने लगा है। साकेत में गुप्त जी कवि के निखरे रूप में आए है—यह मत शुक्ल जी का है, पर बहुगुणा जी ने चीर-फाड़कर यह निष्कर्ष निकाला है कि गुप्त जी कवि ही नहीं हैं, जिसे कदाचित् उनके अतिरिक्त अब कोई सत्य न मानता होगा। साकेत के नवम सर्ग में तथ्यनिरूपिणी वस्तुव्यंजनाएँ परिमाण में अधिक हैं इसी से यह परिणाम नहीं निकलता कि उसमें कवित्व ही नहीं है। जो व्यक्ति छायावादियों के लिये भी मार्ग निकालता आया हो और जो काव्य-सरिता के प्रत्येक मोड़ पर समयानुरूप परिष्कृत काव्य-वैभव का प्रदर्शन करता हुआ हिंदी की वर्तमान कविता का प्रातिनिध्य करता रहा हो उसे नेता या प्रचारक मान बैठना, कवियों की मंडली से उसे निकाल बाहर करना, साहस का काम है। हिंदी के आलोचकों की यह साहसिकता दर्शनीय है।

तुलसीदास के मानस का मानदंड मानकर साकेत की आलोचना करना गुप्त जी के प्रति अन्याय करना है। मानस के अध्ययन-मनन का प्रभाव साकेत पर पड़ा

है। पर तुलसी को देखते गुप्त जी का कवित्व साकेत में प्रस्फुट ही न हुआ हो, संप्रति कोई भी विचारशील ऐसा कहने को प्रस्तुत न होगा। साकेत का लक्ष्य दूसरा है। मानस की प्रबंधधारा में, राम की मर्यादा के निरूपण में जो अनेक जिज्ञासाएँ समय समय पर खड़ी होती हैं उनका निराकरण मुक्तक रूप में प्रस्तुत गीतावली में तुलसीदास जी ने करने का कुछ प्रयास भर किया है। गीतावली मानस से बचे कोमल भावों की पूर्ति कुछ ही करती है। साकेत में जो कथाबद्ध पूरक प्रस्तुत किया गया है वह गीतावली से भिन्न है। गीतावली तो कुछ संकेत भर देकर रह गई है। उसकी व्यवस्थित संभार-सज्जा 'साकेत' में है। अतः यह कहना कि गुप्त जी ने साकेत लिखते समय गीतावली पर ध्यान ही नहीं दिया, ठीक नहीं। गीतावली से तो उत्तेजना ही मिली है। तुलसी जिसे नहीं कर सके उसे गुप्त जी ने कर दिखाया। समालोचक ने चंद्रकुंवर वर्तवाल का स्मरण गुप्त जी के प्रतिपक्ष में छायावादियों के साथ बराबर किया है। वह उनको कहीं भूला नहीं या जान-बूझकर उसने उनका उल्लेख कई स्थानों पर किया है, यह तथ्य है। पर क्यों किया है इसका कोई संगत हेतु न मिल सका। नैयायिकों की शब्दावली में प्रतिपक्ष का खंडन होने और स्वपक्ष की स्थापना का राहित्य होने से ऐसी शैली वितंडा के अंतर्गत आती है। एक बात इस परीक्षण से अनायास हो गई है। यदि खंडनात्मक विशेषणों को हटा दें तो यह कहा जा सकता है कि लेखक ने साकेत के संबंध में सभी विचारणीय पक्षों का संग्रह इसमें अवश्य कर दिया है।

—विश्वनाथप्रसाद मिश्र

हिंदी काव्य में प्रकृति-चित्रण—लेखिका श्री किरणकुमारी गुप्ता, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रिंसिपल, मुरारीलाल खत्री गर्ल्स इंटर कालेज, आगरा, प्रकाशक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, सं० २००६; पृष्ठ संख्या ४८४। मूल्य ६)

प्रस्तुत ग्रंथ दो खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में सिद्धांतों का विवेचन है और दूसरे खंड में विशिष्ट कवियों के प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण का निर्देश। प्रथम खंड में दो अध्याय हैं—(१) सिद्धांत और विवेचन—इसमें मानव और प्रकृति का चिर साहचर्य, प्रकृति का दार्शनिक एवं साहित्यिक अभिप्राय, प्रकृति-प्रेम, कवि और वैज्ञानिक के प्रकृति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण तथा कविसमय का निरूपण है। (२) प्रकृति-चित्रण के विविध रूप—इसके अंतर्गत आलंबन, उद्दीपन, अलंकार, मानवीकरण, रीति और उपदेश का माध्यम तथा परमतत्त्व के दर्शन और प्रकृति-चित्रण के छः रूपों का विवेचन हुआ है।

द्वितीय खंड में वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल, वर्तमान काल और उपसंहार नामक पाँच अध्याय हैं। प्रथम चार अध्यायों में उक्त युगों के प्रतिनिधि कवियों के प्रकृति-चित्रण पर विचार किया गया है। उपसंहार में हिंदी के प्रकृति-काव्य का मूल्यांकन है।

कवि मानव एवं मानवेतर प्रकृति से अपने काव्य की सामग्री ग्रहण करता है। हिंदी कविता में ठीक उसी प्रकार का प्रकृति-चित्रण नहीं मिलता, जिस प्रकार अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने किया है। इस कमी की ओर सबसे पहले हमारा ध्यान स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक विस्तृत निबंध के द्वारा १९२५ ई० के आसपास आकृष्ट किया। अपने कई अन्य आलोचनात्मक निबंधों में भी प्रकृति को आलंबन रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा शुक्ल जी ने की है। शुक्ल जी ने हिंदी काव्य में प्रकृति-चित्रण के जिस अध्ययन का सूत्रपात किया था, श्रीमती गुप्त ने उसी पर एक विस्तृत महल खड़ा कर हिंदी आलोचना-साहित्य की वृद्धि की है।

हिंदी पुस्तकों मे मुद्रण की अशुद्धियों की ओर सामान्यतः ध्यान कम दिया जाता है, पर इस प्रकार के ग्रंथों में, विशेषतः कविताओं में, तो वे बहुत खटकती हैं। उनका निराकरण अत्यंत आवश्यक है। इसमें अनेक उद्धृत कविताएँ अशुद्ध छपी हैं जिससे रसास्वाद में बड़ी बाधा पड़ती है और भ्रम भी उत्पन्न होता है। ये अशुद्धियाँ तीन प्रकार की हैं—(१) कहीं तो कोई शब्द अशुद्ध छप गया है; यथा

चंद के मरम होत मोद है कमोदिनी कौं,
ससि संक पंकजिनी फूलि न सकति है। (पृष्ठ १९०)

इस कवित्त में सेनापति ने शिशिर में सूर्य के निस्तेज होने का वर्णन किया है। ऊपर की पंक्ति में 'मरम' अशुद्ध है, शुद्ध पाठ है 'भरम'। शिशिर के सूर्य को कुमुदिनी भ्रम से शशि समझकर प्रमुदित एवं प्रफुल्लित हो रही है। (२) कहीं कोई शब्द छपने से छूट गया है; यथा

बीच जरतारन की हीरन की जगमगी
ज्योतिन की मोतिन की झालरै। (पृष्ठ ५१)

यह देव के एक कवित्त का चतुर्थ चरण है। इसका मूल पाठ है—

बीच जरतारन की हीरन के हारन की
जगमगी ज्योतिन की मोतिन की झालरै।

(न जाने कैसे 'विशाल है', 'भाल है', 'महाल है' का तुक 'झालरै' बनाया गया है—निश्चय ही यह देव की भूल नहीं है।) और (३) कहीं किसी चरण में एकाध शब्द ऊपर से घुस आया है; यथा—

गोरिन के रँग भीजिगो साँवरो, साँवरे के रँग सु भीजी सु गोरी। (पृष्ठ ५३)

पद्माकर के इस सवैए में 'भीजी' के पहले 'सु' अधिक छपकर विरसता उत्पन्न कर देता है।

केवल एक बात और, जिसकी ओर प्रकाशक को ध्यान देना चाहिए। समय और ग्रंथ के विषय को देखते हुए भी उसका मूल्य अत्यधिक है।

—किशोरीलाल गुप्त

मीराँ, एक अध्ययन—लेखिका श्रीमती पद्मावती 'शबनम'; प्रकाशक लोक-सेवक-प्रकाशन, काशी; सं० २००७; पृष्ठ सं० २६४ (डं० क्रा० सोलह पेजी); छपाई, कागज आदि सुंदर। मूल्य ३॥)

मीराँ के पदों का स्वयं प्रेमी होने के कारण ऐसे अध्ययन, पद-संग्रह आदि का सदा स्वागत करता आया हूँ और मीराँ के संबंध में लिखे गए लेखों, पुस्तकों आदि को यथाशक्ति प्राप्त कर पढ़ता रहा हूँ। इस पुस्तक के मिलने के पहले मुझे पता लगा था कि काशी ही से मीराँ पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसकी लेखिका कोई 'शबनम' हैं। इस फारसी उपनाम से मैंने समझा किसी 'शाअरा' ने मीराँ बाई पर कुछ लिखा होगा और हिंदी भाषा में छपा दिया होगा। पुस्तक मिलने पर वह संदेह दूर हो गया।

पुस्तक का एक पारायण करने पर ज्ञात हुआ कि यह वास्तव में मीराँ का 'एक अध्ययन' मात्र है और इसमें उनकी जीवन-घटनाओं, भक्ति, पदों आदि सभी को संदिग्धता का आवरण दे दिया गया है। स्वभावतः अपरिचित पर संदेह-दृष्टि रखनी ही पड़ती है और 'शबनम' जी ने कुछ ऐसा ही 'मीराँ' के साथ किया है। जिस प्रकार लेखिका ने अन्य लेखकों के संबंध में लिखा है कि वे अपने निर्णयों में द्विधाग्रस्त से पाए जाते हैं, उसी प्रकार वे स्वयं भी संदिग्धता से कहीं पार पाने का प्रयास नहीं करतीं, केवल संदेहों का संग्रह करती चली गई हैं। इसमें संदेह नहीं कि लेखिका ने अबतक के मीराँ-संबंधी संपूर्ण साहित्य का अध्ययन कर यह पुस्तक प्रस्तुत की है। उनका यह प्रथम प्रयास है और स्तुत्य है। पर इसी कारण एक ही उद्धरण अनेक बार आकर पुस्तक की कायवृद्धि मात्र करते हैं। अभी लेखिका की मीराँ पर और भी लिखने की इच्छा है, अतः मेरी संमति में उन्हें इस 'अध्ययन'

पर पुनः विचार करना चाहिए। केवल एक बात लीजिए। अन्य भक्त कवियों ने अपने इष्टदेव का कीर्तन सख्य, दास्य, वात्सल्य आदि भावों से किया है और मीराँ ने माधुर्य या कांत भाव से किया है। इनके इष्टदेव श्रीकृष्ण सांसारिक प्रियतम नहीं थे और उस प्रियतम की जन्म- तथा बाललीला सभी भक्तों को ज्ञात थी और गाई जाती थी। ऐसी अवस्था में 'मुग्धा नारी द्वारा अपने ही प्रियतम के बाल-रूप व बाल लीलाओं का वर्णन' कैसे असंगत प्रतीत होता है? प्रिय की जब सभी वस्तुएँ प्रिय होती हैं तब उसकी बालक्रीड़ाएँ या प्रौढ़ अथवा वृद्ध अवस्था की बातें क्यों न प्रिय होंगी? वस्तुतः कवि की भूमिका से दूर रहने के कारण ही उक्त असंगति प्रतीत हुई है। इस प्रकार की कई बातें हैं, जो कुछ खटकती हैं; पर तब भी यह प्रयास, प्रथम होने पर भी, आदरणीय है और इसमें प्रकट किए गए विचार अभिनंदनीय हैं।

—ब्रजरत्नदास

निर्गुण-धारा—लेखक श्री बैजनाथ, श्री विश्वनाथ; प्रकाशक मानसरोवर प्रकाशन, गया; प्रथम संस्करण, सं० २००७; पृ० सं० १० + २५६ (ड० का० सोलह पेजी); मूल्य ३)

प्रारंभ के नौ पृष्ठों में क्रमशः डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'आशीर्वचन', लेखकों के गुरु प्रो० देवेंद्रनाथ शर्मा लिखित 'अवतरणिका' तथा स्वयं लेखकों की 'अपनी बात' है। पुस्तक में आठ अध्याय हैं—(१) दृष्टि कोण, (२) निर्गुण-धारा का मूल स्रोत भारतीय या अभारतीय? (३) निर्गुण-धारा और प्रातिभ ज्ञान, (४) परंपरागत योग और निर्गुणियों की योग-साधना, (५) निर्गुण-साहित्य का दार्शनिक आधार, (६) निर्गुण-साहित्य में साधु और सद्‌गुरु (७) निर्गुण-काव्य का विधान और भाषा-शैली, (८) निर्गुण साहित्य के कुछ पारिभाषिक शब्द और प्रतीक। इनके विषय नाम से ही स्पष्ट है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखकों की एम० ए० की तैयारी के प्रसंग से लिखी गई है, परंतु निष्पक्ष होकर, यह कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के एक आवश्यक किंतु उपेक्षित अंग के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने में इधर पंद्रह वर्षों में साहस-पूर्वक जो थोड़ा सा प्रयास उचित दिशा में हुआ है उसमें यह पुस्तक भी गिनी जायगी। यह अनुभव अब धीरे-धीरे तीव्रतर होता जा रहा है कि हिंदी साहित्य का अध्ययन जिस दृष्टि को लेकर आरंभ किया गया उससे तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति भली भाँति हुई और हमारे साहित्य का गौरव भी बढ़ा, परंतु वह हमारे अध्ययन में ऐसी उदारता, व्यापकता और निष्पक्षता नहीं ला सकी जो एक निरंतर

उन्नतिशील साहित्य के लिये आज अत्यंत आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक न तो अपने विषय की पूर्ण और अंतिम पुस्तक है और न इसमें प्रकट किए गए सभी विचारों से सहमत होना आवश्यक है, परंतु हमें हर्ष है कि इसमें लेखकों का आदि से अंत तक अपनी दृष्टि को व्यापक, उदार और निष्पक्ष रखने का पूरा और बहुत कुछ सफल प्रयत्न है।

किसी भी कारण से हो, पर केवल निर्गुणी संतों का ही नहीं प्राचीन प्राकृतों से लेकर आज तक का संपूर्ण लोकभाषा-साहित्य, जिसमें बौद्ध-जैन मतों तथा सिद्ध-नाथ आदि संप्रदायों का भी बड़ा विशाल साहित्य है, आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन में भी बहुत कुछ उपेक्षित रहा है। लोक-जागरण और वैज्ञानिक अध्ययन के इस युग में लोक-साहित्य की ऐसी उपेक्षा संकीर्णता का द्योतक है और इसके चलते साहित्य और संस्कृति का अध्ययन सदा ही अधूरा रहेगा। इस उपेक्षा को दूर करने में प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों की उपर्युक्त दृष्टि कुछ न कुछ अवश्य सहायक होगी।

पुस्तक में निर्गुणधारा का दार्शनिक आधार बहुत स्पष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐसे विचारों से भी सर्वथा सहमत होना कठिन है कि निर्गुण-धारा का संपूर्ण साहित्य लोक-गीत के वर्ग का है (पृ० २), निर्गुण ब्रह्म का आश्रय पंडितों, राजाओं और सामंतों के जोर के कारण लेना पड़ा (पृष्ठ १२६), कबीर ने योग का समर्थन भी किया है और विरोध भी (पृ० १०६-१०) इत्यादि। परंतु निर्गुण-काव्य के मूल्यांकन के लिये 'शिष्ट'-काव्य का मानदंड उचित नहीं—यह मानने में, वर्तमान आलोचनाओं को देखते हुए, आपत्ति नहीं हो सकती, यद्यपि शास्त्रीय आलोचना के भी व्यापक सिद्धांतों की कसौटी पर किसी काव्य को—चाहे निर्गुण काव्य हो या और कोई—कसना अव्यवहार्य नहीं।

अस्तु; यह उपादेय पुस्तक प्रस्तुत करने के लिये हमारे होनहार लेखकद्वय बधाई के पात्र हैं। आशा है वे इस अध्ययन पर एम० ए० की परीक्षा का ही विराम न लगा और अधिक व्यवस्थित रूप में इसे जारी रखकर अपने परिपक्व विचार प्रस्तुत करते रहेंगे।

प्राणिशास्त्र (पत्रिका, सचित्र)—संपादक श्री 'अमर' एम० एस-सी०, प्रधानमंत्री, भारतीय प्राणिशास्त्र परिषद्, लखनऊ; वार्षिक मूल्य १५), परिषद् के सदस्यों के लिये बिना मूल्य।

स्वतंत्र भारत में विज्ञान की प्रत्येक शाखा में उन्नति और गवेषणा की पूर्ण सुविधा हो तथा राष्ट्र-भाषा हिंदी विज्ञान की शिक्षा और गवेषणा का योग्य माध्यम

बने और सुविधा की दृष्टि से विज्ञान की एक-एक शाखा के लिये भिन्न भिन्न प्रांतों में अलग-अलग केंद्र स्थापित हों—इन्हीं विचारों को लेकर, प्राणिशास्त्र की उन्नति की सुविधा लखनऊ में होने के कारण लखनऊ में ही भारतीय प्राणिशास्त्र-परिषद् की स्थापना हुई। प्राणिशास्त्र के पुस्तकालय, संग्रहालय एवं गवेषणालय इत्यादि खोलना भी उक्त परिषद् की योजना के अंतर्गत है। इस परिषद् को देश के वैज्ञानिकों और प्रसिद्ध विद्वानों तथा नेताओं की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त है। श्री संपूर्णानंद (माननीय शिक्षामंत्री, उत्तर-प्रदेश) इसके संरक्षक हैं।

प्रस्तुत पत्रिका उक्त परिषद् की मुखपत्रिका है। इसके संपादक का० इं० कालेज के विज्ञान विभाग के अध्यक्ष श्री देवीशंकर मिश्र 'अमर' एम० एस-सी० परिषद् के आजीवन सदस्य, प्रधान मंत्री और कोषाध्यक्ष भी हैं। ये विज्ञान के साथ-साथ हिंदी भाषा और संस्कृति के भी प्रेमी हैं और उत्साहपूर्वक इन्होंने इस बड़े कार्य के गुरुभार को अपने ऊपर ले रखा है।

पत्रिका के प्रथम वर्ष का अंक १ और अंक ३ हमारे सामने हैं। इनकी छपाई, कागज तथा आकार-प्रकार सुंदर हैं और लेख उच्च कोटि के हैं। पत्रिका की यह विशेषता है कि वह विज्ञान विषयक आधुनिक ज्ञान को प्राचीन भारतीय ज्ञान से संबद्ध करके देखने का प्रयत्न करती है।

विज्ञान विषयक इस प्रकार की पत्रिका के संबंध में पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न स्वभावतः उठता है। इस संबंध में तृतीय अंक (पृ० १७६) में संपादक ने अपना मत स्पष्ट किया है और संस्कृत-धातुमूलक सार्थक पारिभाषिक शब्द-निर्माण का पक्ष लिया है। डा० रघुवीर संस्था की मंत्रणा-परिषद् के मान्य सदस्य हैं, अतः उनकी भी सहायता इसे प्राप्त है। स्वभावतः अधिकांश लेखों और शब्दों का अनुवाद ही करना पड़ता है, पर मुख्य शब्दों के अंग्रेजी पर्याय कोष्ठक में दे दिए जाते हैं। अभी कोई पारिभाषिक शब्दावली विद्वानों में सर्वमान्य न होने के कारण यह कार्य अवश्य कठिन है, पर निश्चित शब्दावली प्रस्तुत होने तक प्रतीक्षा करने का यह समय नहीं है, अतः शब्दावली पर विवाद उठाना व्यर्थ है। कार्य करते-करते ही शब्दावली निश्चित होगी। निश्चित होने पर भी वह अपरिवर्तनीय न होगी, आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन होगा। अतः जिस उद्देश्य को लेकर तथा जिस साहस और उत्साह के साथ इस पत्रिका का कार्य आरंभ किया गया है वह सर्वथा स्तुत्य है। हिंदी और विज्ञान का प्रत्येक प्रेमी इसका स्वागत तथा इसकी उन्नति की कामना करेगा।

—चित्रगुप्त

समीक्षार्थ प्राप्त

अंजलि और अर्घ्य (कविता)—लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; सं० २००७; मूल्य ॥)

अमेरिकन इतिहास की रूपरेखा—ले० श्री फ्रांसिस फ्रीडमैन; प्रकाशक राज्य-विभाग, संयुक्तराज्य अमेरिका; सन १९५१; मूल्य ॥)

आधुनिक हिंदी साहित्य का विचारात्मक अध्ययन—लेखिका श्री० शकुंतला अग्रवाल; प्रकाशक शक्ति पब्लिकेशंस, लुधियाना; सन् १९५०; मूल्य १)

आरोग्यशास्त्र—लेखक श्री कुंदनलाल अग्निहोत्री; प्रकाशक स्वास्थ्य भंडार, बरेली; सं० २००७; मूल्य २)

उपनयन संस्कार—लेखक श्री भीमसेन शर्मा तथा श्री आत्माराम राधाकृष्ण; प्रकाशक जयदेव ब्रदर्स, आत्माराम पथ, बड़ौदा; संवत् २००७; मूल्य ॥)

कल्याण (मासिक, स्कंदपुराणांक)—संपादक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार, श्री चिम्मनलाल गोस्वामी एम० ए०, शास्त्री; प्रकाशक गीता प्रेस, गोरखपुर; संवत् २००७; वार्षिक मूल्य ७॥)

दुष्यंत और शकुंतला (कथा)—लेखक श्री शांति-स्वरूप गौड़; प्रकाशक राजेंद्र प्रकाशन मंदिर, आगरा; सन् १९५०; मूल्य २)

धर्म और संस्कृति (संकलन)—लेखक श्री जमनालाल जैन; प्रकाशक भारत जैन महामंडल, वर्धा; सन् १९५१; मूल्य १)

नियामक ज्यामिति, भाग १—लेखक डा० व्रजमोहन; प्रकाशक बिड़ला हिंदी-प्रकाशन मंडल, हिंदू विश्वविद्यालय, काशी; सन १९५०; मूल्य २)

पृथिवी पुत्र (कविता)—लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; सं० २००७; मूल्य ॥)

प्रदक्षिणा (कविता)—लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; सं० २००७; मूल्य १)

भक्ति पुष्पांजलि—लेखक श्री हरिशरण गोस्वामी; प्रकाशक श्री साधुशरण गोस्वामी, धनौती; संवत् २००७; बिना मूल्य।

भावी समाज की भूमिका (उपन्यास)—लेखक श्री बलभद्र ठाकुर साहित्याचार्य; प्रकाशक शक्ति पब्लिकेशंस लुधियाना; सन १९५०; मूल्य ४॥≡)

राष्ट्रभाषा गीतांजलि—लेखक श्री रूपकुमार जेठानी "घायल"; प्रकाशक भारतीय भंडार, लोहा बाजार, भूपाल; मूल्य ।)

राष्ट्रभारती (मासिक, फरवरी १९५१)—संपादक-मंडल : सर्वश्री राहुल सांकृत्यायन, भ० आनंद कौसल्यायन, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बैजनाथ सिंह; प्रकाशक राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति, वर्धा; वार्षिक मूल्य ६)

रोगी-परीक्षा—लेखक श्री शिवनाथ खन्ना, एम० बी० बी० एस०, पी-एच० डी०; प्रकाशक श्री एस० पी० खन्ना, थियासाफिकल सोसायटी, बनारस; सन् १९५१; मूल्य ६)

सरदार वल्लभभाई पटेल, भाग १—लेखक श्री नरहरि द्वा० परीख; अनुवादक श्री रामनारायण चौधरी; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; सन् १९५१; मूल्य ६)

सर्वोदय का सिद्धांत—महात्मा गांधी, श्री विनोबा भावे आदि के विचारों का संकलन; प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; सन् १९५१; मूल्य ॥|)

हरिऔध और वैदेही-वनवास—लेखक श्री श्याम जी जोशी; प्रकाशक मोहन न्यूज़ एजेंसी, कोटा; मूल्य १।)

हिडिंबा (कविता)—लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त; प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; स० २००७; मूल्य ॥|)

विविध

हा हंत !

विगत बुधवार २१ मार्च १९५१ को आचार्य पं० केशवप्रसाद मिश्र का ६५ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया। इस शोकप्रद समाचार से उन्हें जानने-वाला प्रत्येक व्यक्ति मर्माहत हुआ होगा, उनके निकटस्थ जनों का घाव तो बहुत दिनों तक पूजनेवाला नहीं। उनके निधन से भारती का एक मौन और अनन्य उपासक संसार से उठ गया, काशी की सहृदय-गोष्ठी का एक अमूल्य रत्न खो गया। हमारी क्षति तो अपूरणीय है। 'पत्रिका के वर्ष ४३ से ४७ तक (सं० १९९५-९९) वे इसके संपादक-मंडल के एक प्रतिष्ठित सदस्य थे और हाल ही में इसके नव-संयोजित संपादन-परामर्श-मंडल का सदस्य होना उन्होंने स्वीकार किया था, पर हम अपने दुर्भाग्य को क्या कहें, यह अंक भी प्रकाशित न हो पाया कि वे हम से बिदा हो गए !'

पंडित जी का सरल आचारनिष्ठ जीवन, उनकी काव्यमय सरसता एवं वैज्ञानिक तथ्य-ग्राहकता तथा उनकी मधुर निर्मल वाणी उनसे मिलनेवालों के हृदय पर अपनी स्थायी छाप छोड़े बिना नहीं रहती थी। स्वाध्याय और विद्यादान उनके जीवन का प्रधान कार्य था। हिंदू-स्कूल (काशी) के संस्कृत-अध्यापक से वे हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक और फिर उसके अध्यक्ष हुए थे। इस पद से अभी गत वर्ष ही उन्होंने विश्राम लिया था। उसके बाद उनपर पक्षाघात का आक्रमण हुआ जो उनके लिये घातक सिद्ध हुआ।

वे एक आदर्श अध्यापक थे। उनकी अध्यापन-शैली इतनी रोचक थी कि काव्य का तो कहना ही क्या, व्याकरण और भाषा-विज्ञान जैसे विषयों को भी वे काव्य की सरसता प्रदान करते थे। व्याकरण की शुष्क क्लिष्टता से डरकर संस्कृत में अरुचि रखनेवाले सहस्रों छात्रों को उन्होंने अपनी विशिष्ट शैली द्वारा संस्कृत के प्रति आत्मीयता का बोध करा दिया। उनकी लिखी 'संस्कृतसरणिः' में छात्रों को व्याकरण के सीधे प्रहार से बचाकर वाक्य-चयन इस प्रकार से किया गया है कि प्रारंभिक छात्र को भी संस्कृत अपनी भाषा सी लगने लगती है। उनके ज्ञानभांडार

और व्याख्यान-शैली की विशेषता तो यह थी कि स्कूल से लेकर कालेज की उच्चतम कक्षा के विशिष्ट छात्र ही नहीं, अच्छे-अच्छे पांडित्याभिमानी विद्वान् श्रोता भी मुग्ध और कृतकृत्य हो जाते थे। बातचीत में भी किसी प्रसंग पर जब उनकी विमल शीतल वाग्धारा पावन गिरि-स्रोत सी प्रवहमान होती तो अतृप्त श्रोता उसके उद्गम 'मानस' की अतल गहराई पर चकित हो रहता।

पंडित जी सर्वोपरि आदर्श भावक थे। उन्होंने राजशेखर-वर्णित कविगत कारयित्री प्रतिभा और भावकगत भावयित्री प्रतिभा का उल्लेख अपने लेखों में किया है। यह भावयित्री प्रतिभा उनमें विलक्षण थी। प्रसाद जी और गुप्त जी जैसे श्रेष्ठ प्रतिभावान् कवि उनके जैसा भावक पाकर धन्य होते थे।

संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं तथा काव्य, व्याकरण और भाषा-विज्ञान पर तो उनका पूर्ण अधिकार था ही, भाषाविज्ञान के प्रसंग में उन्होंने ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में भी अच्छी गति प्राप्त कर ली थी। भाषाविज्ञान के वे अपने ढंग के एक ही विद्वान् थे। प्रसिद्धि की होड़ में अरुचि के कारण यद्यपि निरंतर कुछ न कुछ छपाते रहने की युग-प्रवृत्ति उनमें न थी, परंतु उन्होंने अपने जीवन में लिखा कम, ऐसा समझना भ्रम होगा। कितने ही ऐतिहासिक प्रामाण्य के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के लेखन में उनका प्रधान, यद्यपि अ-नाम, रूप से हाथ था। केवल कुछ ही रचनाओं को उनके नाम का प्रसाद प्राप्त हुआ, परंतु वे 'कुछ' भी उनकी कारयित्री प्रतिभा की पूर्ण परिचायक हैं, उनका मेघदूत का हिंदी पद्यानुवाद (भारत कलाभवन द्वारा प्रकाशित) अद्वितीय है। उनके 'उच्चारण' तथा '?' शीर्षक निबंध अपने ढंग के अद्भुत हैं। म० म० डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे विद्वान् ने उनके 'उच्चारण' निबंध पर रीझकर अपनी 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' उनपर निछावर की थी। 'काव्यालोक' और 'आदर्श और यथार्थ' पुस्तकों की भूमिका से उनका गंभीर और स्वतंत्र चिंतन प्रकट होता है। अपभ्रंश पर उन्होंने अंग्रेजी में 'डॉक्टर कीथ ऑन अपभ्रंश' शीर्षक एक अत्यंत शोधपूर्ण लेख लिखा था, जो इंडियन ऐंटिक्वेरी (जिल्द ५६, सन् १९३०) में सादर प्रथम पाँच पृष्ठों में प्रकाशित हुआ था और जिसके प्रति उक्त आदर के साथ संपादक ने बहुत प्रशंसात्मक पत्र पंडित जी को लिखा था। भाषाविज्ञान पर उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रंथ लिखने की पूरी सामग्री तैयार की थी, परंतु उनकी लंबी अस्वस्थता और आकस्मिक निधन ने उसे प्रस्तुत न होने दिया। शब्दकोश का संपादन उनका अत्यंत मनोनीत और प्रिय विषय था

और इसके वे विशिष्ट अधिकारी थे। हिंदी में पारिभाषिक शब्दावली के आदि निर्माताओं में वे थे। पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद में वे अर्थसाम्य, ध्वनिसाम्य और मुखसुख तीनों का ध्यान रखते थे; यथा 'फोनोग्राफ' के लिये 'स्वनग्राह' में। उनकी लिखी 'वैद्युत शब्दावली' नागरीप्रचारिणी सभा (काशी) से प्रकाशित है।

उनके त्रयोदशाह के दूसरे दिन उनके निवास-स्थान पर एक स्मृति-गोष्ठी का आयोजन किया गया था और उसमें उनकी स्मृति में एक अध्ययन-मंदिर की स्थापना की बात उठी थी। हमारी हार्दिक कामना है कि जिस सात्विक निष्ठा तथा जिस विषय और शैली के विद्वान वे थे उसके अनुरूप ही अध्येताओं को प्रेरणा और स्फूर्ति देनेवाला अध्ययन-मंदिर उनकी स्मृति में अवश्य और यथाशीघ्र स्थापित हो।

—संपादक

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा

पाठकों को इस सभ्यता का पूरा पूरा चित्र ध्यान में रखना आवश्यक है, क्योंकि उससे भारत में आर्यों के अंतिम प्रवेश के समय का और उस समय की अनार्य सभ्यता का ज्ञान हो सकना संभव है तथा वेदों में अनार्यों के साथ आर्यों के युद्धों का जो वर्णन है वह ठीक ठीक समझ में आ सकता है। सर जान मार्शल की रिपोर्ट तीन भागों में १६३१ ई० में छपी थी और उसका पूरा-पूरा सारांश नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में (वर्ष ४३ अंक २) दिया जा चुका है। उसके पश्चात् और भी महत्त्व की खुदाई हुई है जिसका विवरण यहाँ संक्षेप में दिया जाता है। जो लेख मिले थे वे तो अभी पूर्ण रीति से पढ़े नहीं गए हैं।

आरंभ में सिंधु-घाटी के इन दो ग्रामों, मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा, की खुदाई से भारतवर्ष का इतिहास एकदम ३००० वर्ष ई० पूर्व तक पहुँच गया था, पर पीछे विशेष शोध से ऐसा जान पड़ा कि यद्यपि इस सभ्यता का संबंध भारतवर्ष से थोड़ा बहुत रहा हो, परंतु यह सभ्यता यहाँ विशेषतः निराली सी थी और यह अचानक ही एक उन्नतर स्तर पर पहुँच गई थी। उसके आरंभ और धीरे धीरे नाश होने के कोई चिह्न लक्षित नहीं हुए।

सन् १६४६ ई० में इन स्थानों की नई खुदाई और जाँच हुई। हड़प्पा में मजबूत किलेबंदी के चिह्न पाए गए। यह किला ४०० गज लंबा और २०० गज चौड़ा था। इसके भीतर एक बड़ी बुर्ज भी थी जहाँ से निरीक्षण और रक्षा भली प्रकार हो सकती थी। यह स्थान अधिकारी सत्ता के राज्य का केंद्र था। ऐसा

जान पड़ता है कि जैसी राज्य-व्यवस्था ईरान खाड़ी के सिरे पर उर राज्य में थी वैसी ही हड़प्पा में भी रही होगी। इसमें सारी संपत्ति किसी देव या उसके पुजारियों की रहती थी। अन्य लोगों से गुलामी या सेवा का काम कड़ाई से लिया जाता था और व्यक्ति की उन्नति के लिये कोई प्रयत्न न था। अभी तक हड़प्पा में किसी प्रधान मंदिर का पता नहीं लगा है।

हड़प्पा का विशेष संबंध २३५० ई० पू० में सुमेर (इराक में) से था। भारतवर्ष की बनी हुई हस्ताक्षर बनाने की सात-आठ मुहरें सुमेर और आसपास के कई नगरों में पाई गई हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि सिंधु-तरेटी की यह सभ्यता विदेशी आर्यों के आक्रमणों से थोड़े ही काल में नष्ट हो गई। नगरों की खुदाई में राख के स्तर मिले हैं जिससे जान पड़ता है कि नगर जला दिए गए थे। इन आक्रमणों का समय पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अभी पूरे आधार बिना सन् १५०० ई० पू० रखा है। ऋग्वेद में इन किलों से सुरक्षित नगरों को 'पुर' कहा है। कभी-कभी इन किलों को धातु का बना हुआ (आयसी) कहा है। इन किलों को नष्ट करनेवाला (पुरंदर) आर्यों का देवता इंद्र था। उसने अपने भक्त आर्य दिवोदास के लिये शत्रुओं के ६४ किले नष्ट किए। अनार्य शत्रु शंबर के भी १०० किले इंद्र ने नष्ट किए थे। हड़प्पा की कीर्ति का समय २५०० से १५०० ई० पू० का है। वहाँ के लोगों के रहन-सहन का हाल यहाँ स्थानाभाव से नहीं लिख सकते, परंतु हाल में दो बहुत उपयोगी और सुंदर पुस्तकें अंग्रेजी में छपी हैं जिन्हें पाठकों को अवश्य देखना चाहिए। उनके नाम नीचे लिखे हैं[१] —

[१] आर्क्यालाजी इन इंडिया—मैनेजर, गवर्नमेंट पब्लिकेशंस, दिल्ली, १९५०; मू० ६।।।)

[२] प्रिहिस्टारिक इंडिया टु १००० बी० सी०; लेखक एस० पिगाट; पेंग्विन बुक्स, १९५०; मू० लगभग २)

१—(1) Archaeology in India; Manager of government Publications, Delhi, 1950; Rs. 6/12/-

(2) Prehistoric India to B. C. 1000, by S. Piggott; Penguin Books, 1950; about Rs 2/-

इनसे ज्ञात हो जायगा कि मोहेंजोदड़ो, हड़प्पा आदि की पूरी पूरी खोज अभी तक नहीं हो पाई है। पर यह सभ्यता अचानक ही आक्रमणकारियों द्वारा उसके प्रधान पुरों के जला दिए जाने से शीघ्र ही नष्ट हो गई। यह सभ्यता जिला मांटगोमरी के हड़प्पा से लगाकर दक्षिण में काठियावाड़ के लींबड़ी राज्य तक फैली हुई थी। अभी हाल में ही समाचार छपा है कि राजस्थान के बीकानेर विभाग में कोई ७० स्थान भारत की पुरानी सभ्यता से संबंध रखनेवाले खोज निकाले गए हैं जिनमें से कुछ तो हड़प्पा के समकालीन ज्ञात पड़ते हैं।

नई खोजों का विवरण प्रजा के समक्ष रखने के लिये भारत सरकार "एंशंट इंडिया" नाम की सचित्र पुस्तक प्रति छः मास में निकालती है। एक अंक का मूल्य २), चार अंकों का मूल्य ७), डाक व्यय कुछ नहीं।

—पंड्या बैजनाथ (रायबहादुर)

पर-लेख-हरण

अन्य पर-वस्तुओं की भाँति पर-लेख का भी हरण कानून से दंडनीय अपराध है। इसके लिये 'कापी-राइट' का विशेष कानून है। लेख-हरण की बारीकियों पर तर्क और निर्णय करना इस कानून का विषय है, अतः उसपर हमें यहाँ कुछ कहना इष्ट नहीं। यहाँ हम केवल लेखकों के नैतिक दायित्व की बात कहना चाहते हैं।

दूसरों के परिश्रम से लाभ उठाना कोई अनुचित या नई बात नहीं, पर किसी रूप में उसका प्रतिदान करना या कम से कम कृतज्ञ होना आवश्यक नैतिक कर्तव्य है। किसी भी युक्ति से उसे यों ही डकार जानेवाले व्यक्ति कितने ही प्रबल या प्रभावशाली क्यों न हो जाय, समाज में वे सदा हेय और निंद्य ही होते हैं। दूसरे के लेख का हरण करनेवाला तो और भी अधिक, क्योंकि स्वयं बुद्धिजीवी होने और पाठकों की बुद्धि और हृदय पर प्रभाव डालकर उनके आचरण को भी प्रभावित करने के कारण उनका बड़ा भारी नैतिक दायित्व होता है। अतः पर-लेख-हरण वास्तविक लेखक की प्रत्यक्ष हानि के अतिरिक्त हर्ता का अपने प्रति, प्रकाशक के प्रति और पाठकों के प्रति विश्वासघात है। हृत वस्तु की लघुता से हरण की गंभीरता में अंतर नहीं आता।

हमें खेद है, पत्रिका के अंतर्गत भी पर-लेख-हरण के प्रसंग में यहाँ कुछ कहना पड़ रहा है। पत्रिका के भारतेंदु अंक (वर्ष ५५ अंक १-२) में 'खड़ीबोली पद्य में भारतेंदु के प्रयोग' शीर्षक लेख श्री नारायणप्रसाद सिन्हा के नाम से छपा

है। उन्होंने इसी नाम से लेख हमारे पास भेजा और विशेषांक समय पर निकालने की जल्दी में हमें न उसपर कोई संदेह हुआ, न उसकी मौलिकता जाँचने का अवसर मिला। इस कारण इसी नाम से लेख छप भी गया। पीछे राँची कालेज के प्रा० श्री केसरीकुमार ने हमे सूचित किया कि लेख उनका है और जाँच करने पर हमने मान लिया, लेख उन्हीं का हैं। हम इस सूचना के लिये उनके आभारी हैं और वर्ष ५५ की वार्षिक सूची में, जो इसी अंक में अंत में छपी है, हमने उक्त लेख पर उन्हीं का नाम दे दिया है।

हृदय-संवाद के अतिरिक्त बोधपूर्वक भी अन्य लेखकों या कवियों के भावों या शब्दों को अपनाकर अपनी रचनाओं में जड़ लेना तो कुशल लेखकों और कवियों की भी सफल कला मानी जाती है, परंतु दूसरे के पूरे लेख पर चुपचाप अपना नाम दे देना—वह भी नागरीप्रचारिणी पत्रिका में—किस प्रकार का साहस है, हम क्या कहें? हाँ, भविष्य में सावधान रहने के लिये यह लेखकों और संपादकों को चेतावनी अच्छी है।

राजभाषा-परिषद्

१० मार्च को दिल्ली में हुई राजभाषा-परिषद् के अध्यक्ष श्री ग० वा० मावलंकर का सुविचारित एवं संतुलित भाषण हम इसी अंक के 'चयन' (पृ० ३४६) में उद्धृत कर चुके है। उक्त परिषद् ने प्रस्ताव स्वीकृत कर (१) भारत सरकार से अनुरोध किया है कि वह संविधान के अनु० ३४१ की पूर्ति के लिये एक हिंदी आयोग की स्थापना करे जो नियत अवधि के भीतर राजकार्य में हिंदी को अंग्रेजी के स्थान पर प्रतिष्ठित करने के लिये सब प्रकार से उपाय करे; (२) संसद् के हिंदी जानने वाले सदस्यों से प्रार्थना की है कि वे संसद् में अपने भाषणों, प्रश्नों और पत्र-व्यवहार में अंग्रेजी के बदले हिंदी का प्रयोग करें और (३) अहिंदीभाषियो को आश्वासन दिया है कि हिंदी केवल राजकाय में अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करेगी, वह प्रांतीय भाषाओं के विकास में बाधक न होकर सहायक ही होगी। सभी भारतीयों से यह अनुरोध किया गया है कि वे संविधान के अनुसार हिंदी को राजभाषा-पद पर प्रतिष्ठित कराने में पूर्ण सहयोग दें।

परिषद् का सदुद्देश्य और सत्प्रयत्न सर्वथा उचित और अभिनंदनीय है।

राजभाषा का विरोध

भारतीय संविधान-परिषद् द्वारा नागरी-हिंदी के राजभाषा घोषित हो जाने पर भी अभी कुछ लोग उसे विवादग्रस्त ही समझे हुए हैं और उसके विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। उर्दू के समर्थकों ने पहले यह मानकर संतोष किया था कि 'हिंदी सिर्फ सरकारी जबान मानी गई है, क़ौमी जबान के इंतख़ाब का मैदान अभी तक खुला हुआ है' ("हमारी जबान", दिल्ली, वर्ष ८ अंक १)। अब वे उसे राजभाषा बनाने का भी मत व्यक्त करने लगे हैं। ("भारत" २४ फरवरी १६५१, श्री के० जी० सैयदैन की अध्यक्षता में दिल्ली में सभा)।

यह प्रयत्न उपेक्षणीय हो सकता था। परंतु १५ मार्च को दिल्ली में भारत सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा आयोजित विद्वत्-सम्मेलन में केंद्रीय शिक्षामंत्री मौलाना अबुलकलाम आजाद ने हिंदी के प्रति जो विचार प्रकट किए उनसे हिंदी संसार बहुत चौंक गया। उसे इसका अनुमान करने का अवसर मिला कि संविधान के राजभाषा संबंधी अनुच्छेद ३५१ की पूर्ति की ओर भारत सरकार का उत्साह और गति इतनी मंद क्यों है।

मौलाना के भाषण के आपत्तिजनक अंशों की ओर पहले-पहल ध्यान दिलाते हुए श्री संपूर्णानंद (शिक्षामंत्री, उत्तर प्रदेश) ने उनका समुचित उत्तर दिया, जो पत्रों में प्रकाशित हो चुका है। अन्य विद्वानों और संस्थाओं ने भी व्यापक रूप से विरोध प्रकट किया। मौलाना के भाषण की सबसे मुख्य आपत्तिजनक बात यह थी कि आधुनिक हिंदी ब्रज और अवधी की परंपरा से विच्छिन्न, अभी थोड़े दिन पहले की भाषा है। हिंदी के संबंध में यह कितना बड़ा भ्रम है और हिंदीवालों के लिये इसका क्या अर्थ है, इसकी संभवतः उन्हें कल्पना ही न हुई। हिंदी को परंपरा-विच्छिन्न बतलाना उर्दू को राजभाषा बनाने की भूमिका में प्रथम चरण है, और इसका विरोध स्वाभाविक और उचित ही था।

बाद में (२७ मार्च को) शिक्षा-मंत्री (मौलाना आजाद) ने संसद् में प्रसंगत: कहा कि 'ज्ञात होता है लोगों को भ्रम हो गया है कि मैंने कहा कि ब्रजभाषा और हिंदी भिन्न-भिन्न हैं। मैंने तो यह कहा था कि आधुनिक हिंदी का जन्म ब्रजभाषा से हुआ है। ब्रजभाषा अवश्य ही हिंदी है किंतु इस हिंदी और आधुनिक हिंदी में उतना ही अंतर है जितना चासर की तथा टेनिसन और बायरन की अँगरेजी में है। मैं न तो आधुनिक हिंदी और न ब्रजभाषा का ही पंडित हूँ, यदि आधुनिक हिंदी का कोई पंडित मुझसे कहे कि ब्रजभाषा और आधुनिक हिंदी में कोई अंतर नहीं, तो मैं अपना मत बदल दूँगा।' उनका मूल भाषण तो हमारे सामने नहीं है, परंतु हम समझते हैं हिंदी के विद्वानों का विरोध हवाई नहीं था। फिर भी अच्छा हुआ जो उन्होंने अपने दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण कर दिया। —संपादक

'पत्रिका की परिवर्तन-सूची, सं० २००७

हिंदी

अदिति	पांडिचेरी
आगामीकल	खंडवा
आज (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	काशी
आजकल	दिल्ली
आर्यमार्तंड	अजमेर
कर्मवीर	खँडवा
कल्पना	हैदराबाद (दक्षिण)
कल्पवृक्ष	उज्जैन
कल्याण	गोरखपुर
किशोर	पटना
जनवाणी	काशी
जीवन साहित्य	नई दिल्ली
जैन-सिद्धांत-भास्कर	आरा
ज्ञानोदय	काशी
दीदी	प्रयाग
दीपक	अबोहर
धर्मदूत	सारनाथ
नईधारा	पटना
नयासमाज	कलकत्ता
प्राणिशास्त्र	लखनऊ
भारत (१) दैनिक (२) साप्ताहिक	प्रयाग
भारतीय विद्या	बंबई
राष्ट्रभारती	वर्धा
लोकमान्य	कलकत्ता
विशाल भारत	कलकत्ता
विश्वदर्शन	दिल्ली
विश्ववाणी	प्रयाग
वीर अर्जुन	दिल्ली
वीणा	इंदौर
वेंकटेश्वर समाचार	बंबई
वैदिक धर्म	औंध
व्रजभारती	मथुरा
शिक्षा	इलाहाबाद
शुभचिंतक	जबलपुर
शोध पत्रिका	उदयपुर

संगीत	हाथरस
सचित्र आयुर्वेद	कलकत्ता
सम्मेलन पत्रिका	इलाहाबाद
सरस्वती	इलाहाबाद
सार्वदेशिक	दिल्ली
साहित्य संदेश	आगरा
सैनिक	आगरा
स्वतंत्र भारत	लखनऊ
हंस	काशी
हरिजन सेवक	अहमदाबाद
हिंदुस्तानी प्रचार	मद्रास

अँगरेजी

अदयार लायब्रेरी बुलेटिन	अदयार
इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली	कलकत्ता
ईस्ट ऐंड वेस्ट	रोम (इटली)
एंशंट इंडिया	नई दिल्ली
एनल्स आव ओरिएंटल रिसर्च आव दि युनिवर्सिटी आव मद्रास	मद्रास
एनल्स आव द भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
एनल्स आव द श्री वेंकटेश्वर ओरिएंटल इंस्टिट्यूट	तिरुपति
ऐनुअल बिब्लियाग्रफी आव इंडियन आर्क्यालाजी	लीडन (हालैंड)
जर्नल आव दि इंडियन हिस्ट्री	त्रिवेंद्रम
जर्नल आव ओरिएंटल रिसर्च	मद्रास
जर्नल आव द बांबे ब्रांच आव रायल एशियाटिक सोसायटी	बंबई
जर्नल आव द बांबे युनिवर्सिटी	बंबई
जर्नल आव द बिहार रिसर्च सोसायटी	पटना
जर्नल (कार्टर्ली) आव दि मीथिक सोसायटी	बंगलोर
जर्नल आव द आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी	राजमहेंद्री
थियासाफिस्ट	काशी
दि जैन ऐंटिक्वेरी	आरा
बुलेटिन आव द डेकन कालेज रिसर्च इंस्टिट्यूट	पूना
बुलेटिन आव द स्कूल आव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज	लंदन
सेल्फ रिअलिजेशन मैगजीन	कैलिफोर्निया (सं० रा० अमेरिका)
हार्वर्ड जर्नल आव एशियाटिक स्टडीज	केंब्रिज (मसाचुसेट्स)

अन्य

केसरी (मराठी)	पूना
बुद्धिप्रकाश (गुजराती)	अहमदाबाद
भारत इतिहास संशोधक मंडल पत्रिका (मराठी)	पूना

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५५, संवत् २००७

संपादक

कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

मुद्रक—नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रण, काशी

वार्षिक विषय-सूची

विमर्श

चयन

भारतेंदु ग्रंथावली (पहला खंड)

संपादक श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी०

आधुनिक हिंदी के जन्मदाता गोलोकवासी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समस्त नाटकों का यह संग्रह संवत् २० ... शित हुआ है। इस संग्रह में ... तथा पाँच संस्कृत से और ... पाठ यथासंभव भारतेंदु जी ... किया गया है। जहाँ नाटकों ... ओं- हरिश्चंद्र मैगजीन, हरि ... द की सहायता से मूल पाठ ... किया गया है। इस प्रकार ... उपयोगी हो गया है। ... में प्रयुक्त गीतों की प्र ... आकार के लगभग ...

वालमीकि रा ...

हनुमान के श्री राम ... चूड़ामणि लाकर श्री ... ब्रजभाषा में किया ... ब्रजभाषा की कवि ... अवगाहन किया है ... मधुर और ओजपूर्ण ... रचना करते थे, फ ... थीं। सभा ने उन ... डबल क्राउन १६ पे...